गोस्वामी तुलसीदास

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप मे राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ–रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे है, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत मे लेखन-कला का सम्भवत सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य · राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

गोस्वामी तुलसीदास

लेखक
रामजी तिवारी

साहित्य अकादेमी

Goswami Tulsidas : A monograph in Hindi by Ramji Tiwari on the medieval Hindi poet Sahitya Akademi, New Delhi (2000), Rs 25.

प्रथम संस्करण : १९९८
पुनर्मुद्रण : २०००

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, ३५, फीरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१
विक्रय विभाग : 'स्वाति', मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१

क्षेत्रीय कार्यालय
शारदा सिनेमा बिल्डिंग, दादर, मुम्बई ४०० ०१४
जीवनतारा, चौथा तल, २३ ए/४४ एक्स, डायमंड हार्बर रोड,
कलकत्ता ७०० ०५३
सैंट्रल कॉलेज कैम्पस, डॉ. बी.आर. अम्बेदकर वीथि, बैंगलौर ५६० ००१
सी आई.टी. कैम्पस, टी टी टी.आई पोस्ट, चेन्नई ६०० ११३

मूल्य पच्चीस रुपये

ISBN 81-260-0517-3

Website : http //www sahitya-akademi-org.

मुद्रक : कलरप्रिंट, दिल्ली ११० ०३२

अनुक्रम

1

जीवन-वृत्त

आत्मगोपन की प्रवृत्ति और आत्मश्लाघा के प्रति आत्यन्तिक विरति के कारण महापुरुषों के जीवन-वृत्त की सही जानकारी नहीं मिल पाती। जीवन की घटनाओं तिथियों, उपलब्धियों और परिस्थितियों का स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण प्रामाणिक अथवा निर्णयात्मक ढंग से कुछ कह पाना कठिन हो जाता है। भारतीय सन्तों के सन्दर्भ मे यह विशेष रूप से लक्षणीय है कि उनके जीवन-वृत्त का ऐतिहासिक प्रमाण अत्यल्प मात्रा में उपलब्ध होता है। कबीरदास, सूरदास, जायसी, तुलसीदास आदि सन्त कवि मध्यकाल के हैं, किन्तु उनके सम्बन्ध में हमें आज भी प्रामाणिक और निर्विवाद जानकारी नहीं मिल पायी है। तथ्यपरक जानकारी के अभाव में अनेक प्रकार की कपोल-कल्पित जनश्रुतियाँ प्रचारित हो जाती हैं और परस्पर विरोधी मतों की प्रतिष्ठा होने लगती है। गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। उनके जन्म स्थान, कुल-गोत्र, माता-पिता, परिवार, गुरु आदि के सम्बन्ध में अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं, जन्म और मृत्यु की तिथियो के सम्बन्ध मे भी विवाद है।

कतिपय ग्रन्थों में गोस्वामी तुलसीदास के जीवनवृत्त का उल्लेख किया गया है। नाभादास द्वारा लिखित *भक्तमाल* मे एक छप्पय के माध्यम से तुलसीदास को वाल्मीकि का अवतार होने की बात कही गयी है। इस छप्पय में गोस्वामी जी की जीवनी के स्थान पर उनकी एकनिष्ठ राम-भक्ति को ही रेखांकित किया गया है, प्रियादास द्वारा लिखित *भक्तमाल* की टीका में तुलसीदास की चमत्कारिक सिद्धियों का उल्लेख है। *दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता* में तुलसीदास को नन्ददास का बड़ा भाई बताया गया है और इसी प्रसंग में उनके काशीवास और उनकी व्रज-यात्रा का वर्णन है। वेणीमाधवदास द्वारा लिखित *गोसाईंचरित* में तुलसीदास के जीवन का विस्तृत वर्णन है। कहा जाता है कि वेणीमाधवदास तुलसीदास के समकालीन थे और उन्हीं के साथ रहते थे। किन्तु इसमें चमत्कारपूर्ण घटनाओं

की बहुलता के कारण इसकी प्रामाणिकता पर संदेह किया जाता है। *गोसाई चरित* के अतिरिक्त वेणीमाधवदास की एक दूसरी कृति *मूल गोसाई चरित* के नाम से प्रसिद्ध है। इस कृति मे कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जिनका समावेश *गोसाई चरित* में नही किया गया है। कुछ विद्वान इस कृति को अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक मानते हैं किन्तु इस ग्रन्थ में उपलब्ध तथ्य भी निर्विवाद नहीं है। इस कृति में जन्म से लेकर मृत्यु तक का विवरण अनेक तिथियों और घटनाओं के साथ दिया गया है। *तुलसी चरित* नामक एक वृहद ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है किन्तु इस ग्रन्थ में उपलब्ध विवरण न तो अन्यग्रन्थों से मेल खाते है और न ही अन्तस्साक्ष्य से। इसमें दिये गये विवरण प्रचलित जनश्रुतियों पर आधारित प्रतीत होते हैं। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जन्मे हाथरस के तुलसी साहेब ने *घट रामायण* की रचना की वे अपने को गोस्वामी तुलसीदास का अवतार मानते थे और उनका दावा था कि उन्हें पूर्वजन्म की सभी बाते स्मरण थीं। इसी स्मृति के आधार पर उन्होंने अपने पूर्वजन्म की कथा का *घट रामायण* में संक्षिप्त उल्लेख किया है। किन्तु चमत्कारपूर्ण घटनाओं की बहुलता से स्पष्ट संकेत मिलता है कि घट रामायण में दिये गये जीवन-वृत्त का आधार भी प्रचलित जनश्रुतियाँ ही हैं। उपर्युक्त सभी जीवनीपरक कृतियों में परस्पर भेद की स्थिति और अतिशयोक्तिपूर्ण अवैज्ञानिक चमत्कारों की बहुलता के कारण उन्हें पूर्णतया प्रामाणिक या ऐतिहासिक महत्त्व का नही कहा जा सकता।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त गोस्वामी जी की कृतियों में जीवन-वृत्त से सम्बन्धित कुछ संकेत उपलब्ध होते हैं। इन संकेतों को प्रामाणिक अन्तस्साक्ष्य के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। इन संकेतों में तुलसीदास के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, कुल, माता-पिता, गुरु आदि के सम्बन्ध में सूक्ष्म सकेत मिलते हैं। गोस्वामी जी की कृतियों में उपलब्ध अन्तस्साक्ष्यो के साथ जहॉ बाह्य साक्ष्यो की समानता मिलती है उसे प्रामाणिक मान लेने में किसी प्रकार की बाधा नहीं होनी चाहिये।

तुलसीदास की जन्मतिथि के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है, किन्तु अधिकांश विद्वान उनकी जन्मतिथि सं. 1554 श्रावण शुक्ल सप्तमी मानते हैं। यही तिथि मूल गोसाई चरित से समर्थित और परम्परा से भी अनुमोदित है। जन्म-स्थान के सम्बन्ध में दो मत मुख्य है। कुछ विद्वान इनका जन्मस्थान बॉदा ज़िले के अन्तर्गत राजापुर को मानते हैं। राजापुर के कुछ सामाजिक रीति-रिवाज, मन्दिर में रखी गयी तुलसी की मूर्ति, गोस्वामी जी के हाथ की लिखी 'मानस' के अयोध्याकांड की प्रतिलिपि और उनकी शिष्य परम्परा के राजापुर निवासी उपाध्यायों के पास

उपलब्ध सनदें इस बात को प्रमाणित करती हैं कि राजापुर से गोस्वामी जी का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में अवश्य रहा है। किन्तु बॉदा गजेटियर के अनुसार तुलसीदास ऐटा जनपद के सोरों नामक स्थान से आये थे और उन्होंने अकबर के शासनकाल में राजापुर को बसाया था। यह तथ्य भी पूर्णतया प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। कुछ विद्वानों का मत है कि तुलसीदास का जन्म न तो राजापुर में हुआ था और न ही सोरों में उनका जन्म सूकर क्षेत्र के किसी समीपवर्ती स्थान पर हुआ था जहाँ से वे सोरो आये थे और बाद में राजापुर गये। तुलसीदास का जन्म अभुक्त मूल नक्षत्र में हुआ था जिसके कारण उन्हें परिवार के लिए अमंगलकारी समझा गया और उनके प्रति उपेक्षा का व्यवहार किया गया। कहा जाता है कि तुलसीदास ने जन्म लेते ही रामनाम का उच्चार किया था इसीलिए उनका नाम रामबोला रखा गया था। यदि यह जनश्रुति निराधार हो तो भी उनका बचपन का नाम रामबोला अन्तस्साक्ष्य से भी प्रमाणित है। जन्म के कुछ ही समय पश्चात् तुलसीदास की माता का निधन हो गया था और उनका पालन-पोषण चुनियाँ नामक दासी के द्वारा किया गया। कुछ समय पश्चात् पिता की छाया भी सिर से उठ गयी और बालक रामबोला निराश्रित हो गया। पॉच वर्ष की आयु तक पहुॅचते-पहुँचते चुनिया दासी भी परलोकवासी बन गयी और बालक रामबोला अनाथ होकर दर-दर की ठोकरे खाने के लिए विवश हो गया। *कवितावली* मे अपनी बाल्यावस्था की विपन्नता का उल्लेख करते हुए तुलसीदास स्वयं लिखते हैं—

मातु पिता जग जाइ तज्यो विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर, कूकर टूकन लागि लगाई॥

अथवा

जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि बस।
खाए टूक सबके विदित बात दुनी सों॥

अथवा

बारे ते लताल बिललात द्वार द्वार दीन
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।

उक्त उद्धरणों से तुलसीदास के बाल्यकाल की विपन्नता और उससे उत्पन्न दारुण पीड़ा बोध का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है।

इसी अवस्था में भटकते हुए रामबोला सूकर क्षेत्र पहुॅचे होगे। सूकर क्षेत्र में रामानन्द की शिष्य परम्परा के गोपालदास के शिष्य नरहरिदास के शिष्य बने। गुरु महिमा का वर्णन करते समय तुलसीदास ने इन्हीं नरहरिदास को स्मरण करते हुए लिखा है—'वन्दौं गुरुपर कंज, कृपा सिधु नर रूप हरि' यही नरहरिदास उनके

'निज गुरु' थे जिनसे उन्होंने सर्वप्रथम रामकथा सुनी। तुलसीदास की स्वीकारोक्ति है—

मैं पुनि निज गुरुसन सुनी कथा जो सूकर खेत।

इन्हीं नरहरिदास ने ही उन्हें रामबोला के स्थान पर तुलसी नाम दिया और इन्हीं के सानिध्य में तुलसीदास की राम भक्ति भी दृढ़ हुई।

तुलसीदास की युवावस्था और गार्हस्थ्य जीवन का अन्तस्साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि गुरु नरहरिदास ने तुलसीदास को काशी के प्रसिद्ध विद्वान शेष सनातन की पाठशाला में ले गये जहाँ पर तुलसीदास ने विभिन्न शास्त्रों का गहन अध्ययन किया। अध्ययन समाप्त होने पर सभवतः तुलसीदास राजापुर आ गये थे। कुछ ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि राजापुर में रहकर वे कथा-पुराण का प्रवचन करके अपनी आजीविका चलाते थे। राजापुर में निवास का एक अन्तस्साक्ष्य भी है। रामचरितमानस के एक प्रसंग में जब राम वन जा रहे थे तो यमुना के किनारे एक तरुण तपस्वी कवि उनके चरणों में प्रणिपात करके असीम आनंद से विभोर हो उठता है। तुलसीदास लिखते हैं—

तेहि अवसर तापस एक आवा। तेजवंत लघु वयस सुहावा।
कवि अलसित गति अधिक विरागी। मन-क्रम वचन राम अनुरागी॥

इस तापस का और कोई परिचय नहीं दिया गया है। संभव है कि अपने निवास स्थान के समीप ईष्ट देव भगवान श्रीराम के आगमन के प्रसंग मे गोस्वामी जी ने स्वयं को प्रस्तुत किया हो। भक्त कवियों में इस प्रकार की परम्परा भी प्राप्त है। इन संकेतों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि राजापुर से गोस्वामी जी का निकट सम्बन्ध था। उनकी शिष्य परम्परा के उपाध्यायों के यहॉ सुरक्षित सनदें और राजापुर में बने मन्दिर में स्थापित तुलसीदास की प्रतिमा तथा वहाँ रखी गई मानस के अयोध्याकाण्ड की प्रतिलिपि (जिसे तुलसीदास के हाथ की लिखी माना जाता है) आदि बहिस्साक्ष्यो से भी इस बात की पुष्टि होती है। राजापुर के कुछ रीति-रिवाज भी तुलसीदास द्वारा चलाए गए माने जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों में उनके माता-पिता या अन्य पारिवारिक जनों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। मूल गोसाई चरित के अनुसार उनकी माता का नाम हुलसी था। इस नाम का संकेत तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्ति से भी मिलता है—

रामहि प्रिय पालन तुलसी सो
तुलसीदास हित हिय हुलसी सो।

रहीम द्वारा लिखित पंक्ति 'गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय' में भी इस नाम की श्लेषात्मक अभिव्यक्ति की गई है। यह नाम परम्परा से भी समर्थित है।

गोस्वामी जी की कृतियों में उनके पिता के नाम का कोई संकेत नहीं मिलता। कृष्णदास रचित 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' में तुलसीदास के पिता का नाम आत्माराम लिखा गया है। वे सनाढ्य शुक्ल ब्राह्मण थे। ये तथ्य ऐतिहासिक आधारों पर पूर्णतया प्रामाणिक नहीं है।

मूल गोसाई चरित और 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' (मुरलीधर चुतर्वेदी) के अनुसार तुलसीदास का विवाह एक विदुषी ब्राह्मण कन्या से हुआ था। मुरलीधर चतुर्वेदी के अनुसार यह कन्या बन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली थी। तुलसीदास के एक तारापति नामक पुत्र होने का भी उल्लेख मिलता है किन्तु यह बालक थोड़े ही दिन जीवित रह सका। तुलसीदास अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक अनुरक्त थे। यह स्वाभाविक भी जान पड़ता है। तुलसीदास ने जीवनभर उपेक्षाएँ ही झेली थी। इसके अतिरिक्त उनके दैन्यपर किसी ने सहानुभूति व्यक्त की होगी तो कालान्तर में कुछ ने उनकी विद्वता अथवा भक्ति-निष्ठा का सम्मान किया होगा। *किन्तु आत्मीय प्रेम तो उन्हें रूप और गुण से समृद्ध रत्नावली से ही मिला।* इस दुर्लभ उपलब्धि से आसक्ति का अतिरेक सर्वथा मनोवैज्ञानिक था। किन्तु गोस्वामी जी का गार्हस्थ्य सुख स्थायी न हो सका। ऐसा उल्लेख मिलता है कि रत्नावली एकबार गोस्वामी जी को बताये बिना मायके चली गयी। उनसे यह वियोग सहन न हो सका। वे रात में नदी को तैरकर पार किये और ससुराल पहुँच गये। तुलसीदास जी की इस दुर्बलता से रत्नावली को बड़ा क्षोभ हुआ। उनके प्रेम को उसने दुर्बलता के रूप में ग्रहण किया। गोस्वामी जी को आक्रोशपूर्ण शब्दों में फटकारते हुए रत्नावली ने कहा—

हाड़ मांसमय देह मम, तासो जैसी प्रीति।
वैसी जो श्रीराम में, होत न भव भय भीति॥

तुलसीदास के संवेदनशील मन ने रत्नावली के शब्दों के मर्म को समझा। गुरु नरहरिदास ने राम-भक्ति का जो बीज उनके हृदय में बोया था वह पत्नी के शब्दों से ऊर्जावान आलोक पाकर लहलहा उठा। उन्होंने सार्थक जीवन के लिए राम-भक्ति के महत्त्व को अनुभव किया और उसी रात गृह त्यागकर विरक्त हो गये।

गृह-त्याग के पश्चात् गोस्वामी जी अनेक स्थानों पर घूमते रहे, सन्त-महात्माओं और विद्वानों की संगति मे अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासाओं का समाधान ढूँढ़ते रहे। उन्होंने अनेक तीर्थो का भ्रमण किया और इसी प्रक्रिया मे उन्हें भारतीय समाज और सस्कृति को निकट से देखने और परखने का अवसर मिला जिससे उनका अनुभव विश्व अत्यन्त व्यापक और समृद्ध बन गया। उनकी राम-भक्ति की निष्ठा दृढ से दृढ़तर होती गयी। इसी दौरान अवसरानुकूल

काव्य-सृजन का कार्य भी होता रहा।

मूल गोसाईं चरित और *घट रामायण* के अनुसार गोस्वामी जी ने सं. 1631 में अयोध्या में अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ *रामचरितमानस* की रचना आरम्भ की। इसकी पुष्टि 'मानस' की निम्नलिखित चौपाई से भी होती है–

संवत सोलह सौ इकतीसा।
करौ कथा हरिपर धरि सीसा॥

'रामचरितमानस' का लेखन अयोध्या और काशी में किया गया। कहा जाता है कि अवधी जैसी सर्व सुलभ भाषा में लिखे जाने के कारण 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता बहुत बढने लगी परिणामस्वरूप उस समय के स्थापित पंडितों के द्वेषभाव से गोस्वामी जी के विरुद्ध अनेक प्रकार के षड्यन्त्र किये गये। यहॉ तक कि मानस की प्रति को भी चुराने या नष्ट करने का प्रयास किया गया। परिणाम स्वरूप गोस्वामी जी ने मानस की प्रति की सुरक्षा का भार अपने मित्र और काशी के जमींदार टोडर को सौंपा। अन्य काव्यकृतियाँ 'मानस' के बाद की लिखी मानी जाती हैं। *कवितावली* की कविताओं के बारे में यह अनुमान लगाया जाता है कि इनकी रचना अलग-अलग समयों और संदर्भो में की गयी होगी और वाद में इन्हें एकत्र कर दिया गया होगा।

जीवन के अंतिम दिनों में गोस्वामी जी ने काशी में वास किया। काशी में गगा तट के असी घाट पर तुलसीदास के उत्तराधिकारियों के पास आज भी कुछ कागजात मौजूद है जो उनके निवास की पुष्टि करते हैं। टोडर के उत्तराधिकारियों के बीच कलह उत्पन्न होने पर गोस्वामी जी ने एक पंचनामा कराया था, वह भी सुरक्षित है। काशी में और भी ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं जिनसे उनके काशीबास की पुष्टि होती है। काशी में फैली महामारी की विनाशलीला से मर्माहत होकर गोस्वामी जी ने उसके उद्धार के लिए भगवान श्रीराम, शकर और हनुमान जी से प्रार्थना की थी।

गोस्वामी जी की कृतियों से उनके व्यक्तित्व का जो स्वरूप सामने उभरता है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी अत्यन्त निस्पृह और निर्भीक स्वभाव के एकनिष्ठ राम-भक्त थे। राम की अनन्य भक्ति ही उनके जीवन का चरम साध्य थी और अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए राम का भजन ही सुविधाजनक राजमार्ग था। वे अपने जीवन की किसी भी सार्थक उपलब्धि का श्रेय राम के अनुग्रह को ही देते हैं। वे बार-बार श्रीराम के प्रति अपने कृतज्ञता भाव को व्यक्त करते हैं। यथा–

तुलसी बनी है राम रावरे बनाये नतु।
धोबी कैसे कूकर न घर को न घाट को॥

अथवा

हौं तो सदा खर को असवार
तिहारोइ नाम गयंद चढ़ायौ।

वृद्धावस्था में गोस्वामी जी को अनेक प्रकार के असह्य शारीरिक कष्टों को भोगना पड़ा था किन्तु उनकी भक्ति-निष्ठा में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आया बल्कि वह उत्तरोत्तर दृढ़ से दृढ़तर होती गयी। इसी भक्ति में अकंप निष्ठा और विश्वास के कारण उन्होंने समस्त सांसारिक प्रलोभनों का दृढ़ता से त्याग किया। कहा जाता है कि बादशाह अकबर ने उन्हें मनसबदार बनाने का प्रस्ताव भेजा था जिसको उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि,

हौं चाकर रघुबीर को पटौ लिख्यो दरबार।
तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार॥

कहा जाता है कि गोस्वामी जी की ख्याति से प्रभावित होकर बादशाह जहाँगीर भी उनके दर्शन करने आया था और कुछ धन देने का प्रयास किया था किन्तु गोस्वामी जी ने उसे अस्वीकार कर दिया। इन घटनाओं से गोस्वामी जी के भक्त हृदय की निर्द्वद्वता और मूल्यनिष्ठता का प्रमाण मिलता है। उनकी कृतियो में इस बात का भी संकेत मिलता है कि वे रूढियों, अंध विश्वासों, अमानवीय प्रवृत्तियो, शोषक नीतियो, पाखण्डी प्रथाओं, विकृत परम्पराओं आदि के घोर विरोधी थे इससे उनकी सामाजिक संसक्ति और लोक कल्याण की भावना की पुष्टि होती है। लोकमानस में राम की भक्ति और राम के जीवन में आचरित उदात्त आदर्शों की प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से गोस्वामी जी ने काशी में रामलीला का मंचन करवाया था जिसकी स्वस्थ परम्परा आज भी वर्तमान है।

गोस्वामी जी के जीवन-वृत्त से सम्बन्धित असंख्य चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु वैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक आधारों पर उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध हैं। ये घटनाएँ जनश्रुतियों पर आधारित है।

गोस्वामी जी की मृत्यु सम्बन्धी तिथि में मतभेद है किन्तु मूल गोसाई चरित में दी गयी तिथि ही अधिकांश विद्वानों द्वारा समर्थित है। इसके अनुसार उनकी मृत्यु सम्वत् 1680 में श्रावण महीने के कृष्णपक्ष की तृतीया, दिन शनिवार को हुई। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में उल्लेख है–

संवत सोलह सौ असी असी गंग के तीर।
श्रावण स्यामा तीज सनि, तुलसी तजे शरीर॥

उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनकी मृत्यु काशी में गंगा के किनारे असी घाट पर हुई। असी घाट पर तुलसीदास के उत्तराधिकारियों के वंशज आज भी निवास करते हैं और उनके पास उनके समय के कुछ कागजात भी सुरक्षित हैं। इस तिथि को प्रामाणिक मानने का एक और भी कारण है। गोस्वामी जी के मित्र और काशी के जमींदार टोडरमल के वंशज इसी तिथि को गोस्वामी जी की मृत्युतिथि मानते हैं और इसी दिन अन्दान आदि करते हैं। तिथिगणना के अनुसार भी इसी तिथि की पुष्टि होती है।

अन्तस्साक्ष्य से यह संकेत मिलता है कि वृद्धावस्था में अनेक प्रकार के शारीरिक कष्टों के बावजूद गोस्वामी जी की मृत्यु शांतिपूर्ण थी। *कवितावली* और *दोहावली* में कुछ ऐसी पंक्तियाँ है जो उनकी मृत्यु के समय की स्थिति पर प्रकाश डालती है यथा–

राम नाम, जस बरनि कै, भयो चहत अब मौन,
तुलसी के मुख दीजिए, अब ही तुलसी सोन॥

इस दोहे से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी जीवन के अंतिम क्षण तक भगवान श्रीराम का गुणानुवाद अपनी कविता के माध्यम से करते रहे, उनकी काव्य-साधना आजीवन चलती रही। यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि शांतिपूर्ण मनः स्थिति में उन्होंने मृत्यु का वरण किया औ अनेक शुभ शकुनों के साथ इह लोक लीला समाप्त की।

2

युगीन परिस्थितियाँ

संवदेनशील रचनाकार पर युग विशेष का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है। रचनाकार जिस परिवेश में रहता है उसी से संस्कार और प्रेरणा ग्रहण करता है, युगीन परिस्थितियों से प्राप्त अनुभव को अपनी रचना का उपजीव्य बनाता है। वस्तुतः रचनाकार अपनी युगव्यापी परिस्थितियों की अभावात्मक स्थितियों से टकराकर संक्षुब्ध होता है और उन्हीं अभावों को दूर करने के लिए रचनात्मक विकल्पो को अपनी रचना में अनुस्यूत करता है। बाह्य परिवेश का जो बिम्ब रचनाकार के मन पर पड़ता है और उसकी जो प्रतिक्रिया उसके मन में होती है उसी की प्रतिबिम्बात्मक अभिव्यक्ति रचना में होती है। यही बिम्ब-प्रतिबिम्बात्मक प्रक्रिया रचनाशीलता को गति और शक्ति देती है। किन्तु एक मूल्यनिष्ठ और ध्येयधर्मी रचनाकार अपने युग की यथास्थिति का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना अपना लक्ष्य नहीं मानता। उसका लक्ष्य अवांछित स्थितियों को बदलकर वांछित विकल्पों की प्रतिष्ठा करना होता है। यही उसका स्रष्टा धर्म है जो उसे सामाजिक दायित्व और मानवीय मूल्यों के प्रति निष्ठावान बनाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि युगीन परिस्थितियाँ साहित्यिक सृजन में अनिवार्यतया कारणीभूत होती हैं।

गोस्वामी तुलसीदास वैयक्तिक स्तर पर एक विरक्त का जीवन जीते थे किन्तु चेतना के स्तर पर लोक जीवन के प्रति उनमें गहरी संसक्ति थी। उनकी कृतियों में तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक स्थितियों का स्पष्ट चित्र ही नहीं मिलता अपितु क्षुब्ध हृदय की तीव्र प्रतिक्रिया और उसे बदल देने के उपायों के संधान की विकलता भी दिखायी पड़ती है। गोस्वामी जी की कृतियों को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए उनकी समकालीन परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय उपादेय होगा।

सामाजिक परिस्थिति

गोस्वामीजी का रचनाकाल मुख्यतया मुगल सम्राट अकबर और उसके बेटे जहाँगीर का शासन काल था। भारतीय समाज की स्थिति मुगल सत्ता के स्थापित होने के पूर्व ही अत्यधिक बिगड़ चुकी थी। राजपूत काल में पूरा देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। किसी भी सर्वमान्य केन्द्रीय सत्ता के अभाव में शांति और व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी थी। अरबों और अफगानों के आक्रमणों ने भयानक आतंक पैदा कर दिया था। महमूद गज़नवी ने इस्लाम धर्म के प्रचार के नाम पर अनेक मन्दिरों को तोडा और असीम सम्पदा लूटी। मुहम्मद गोरी ने भारत मे अपनी सल्तनत कायम की। गोरी के बाद जिन शासकों ने शासन की बागडोर सँभाली वे इसी इस्लाम के कट्टर अनुयायी और हिन्दू धर्म के द्रोही थे। मन्दिरों को तोड़ना, नये मन्दिरों को न बनने देना, पुराने मन्दिरों की मरम्मत न करने देना, जज़िया कर लगाना, गोहत्या करना जैसे कार्य हिन्दुओं की भावना को संत्रस्त करते रहे। आन्तरिक उत्पीड़न के साथ बाह्य आक्रमणों का भय भी निरन्तर बना रहता था। चंगेज़ खाँ और तैमूरलंग के आक्रमणों ने लूट-पाट और नृशंस न सहार का जो दृश्य प्रस्तुत किया वह कल्पनातीत था। इन शासकों ने निर्दयतापूर्वक हिन्दुओं की बहू-बेटियों का बलात् अपहरण भी किया। चारों ओर भयानक अराजकता फैली थी। भारतीय समाज विपन्नता, अत्याचार, अपमान और भय के आतंक से सत्रस्त था।

सन् 1526 में बाबर ने मुगल साम्राज्य की स्थापना की। बाबर और हुमायू का काल प्रायः संघर्ष का काल रहा। किन्तु अकबर के शासन काल में स्थिति बदली। अकबर ने अपने शासन के आरम्भिक बीस वर्षो के संघर्ष से अनुभव किया कि हिन्दू समाज के सहयोग के अभाव में साम्राज्य की स्थिरता सभव नही है। हिन्दुओं को राजभक्त बनाने के उद्देश्य से अकबर ने उन्हें सरकारी नौकरियों मे सम्मिलित किया। जजिया और यात्रीकरों को माफ़ कर दिया। गोहत्या बद करवा दी। समाज सुधार के भी अनेक उपाय किये। राजा भगवानदास, राजा मानसिंह और टोडरमल जैसे लोग महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त हुए। अकबर की इस नीति का परिणाम यह हुआ कि इससे हिन्दू राजाओं ने अकबर की विरोधी ताकतों से लोहा लिया और अपनी वीरता से मुग़ल साम्राज्य की सीमा को विस्तृत किया। हिन्दू राजाओं की बेटियों से विवाह करने के कारण और हिन्दू सन्त महात्माओं के निकट सम्पर्क में आने के कारण अकबर हिन्दू धर्म के प्रति सहानुभूतिशील था। इस उदारता का ही परिणाम था कि फतेहपुर सीकरी में ब्राह्मण,

जैन, पारसी, ईसाई, सुन्नी, शिया अनेक धर्मों के लोग आते थे और अकबर उनके शास्त्रार्थ को सुनता था। देश की अर्थव्यवस्था को सुधारने और कृषि उन्नति के लिए भी अकबर ने अनेक उपाय किये।

अकबर का शासनकाल यद्यपि पूर्ववर्ती शासकों की अपेक्षा शान्तिपूर्ण था किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से ही उसका महत्त्व था। शासन के द्वारा उपकृत कुछ ख़ास वर्ग के लोगों तक ही उसका प्रभाव सीमित था। जन साधारण पर उसका विशेष महत्त्व नहीं था। अकबर के पूर्ववर्ती शासकों ने अनेक हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बना लिया था। अनेक लोग किसी-न-किसी लोभ के कारण मुसलमान बन गये थे। इसके कारण सामाजिक ढाँचे में एक प्रकार की विशृंखलता पैदा हो गयी थी। राजाओं की विलासप्रियता का प्रभाव भारतीय अमीरों पर पड़ रहा था और अमीरों का प्रभाव जनता पर ! 'यथा राजा तथा प्रजा' न्याय से प्रजा प्रमादग्रस्त और विलासी बनती जा रही थी। सरकारी कर्मचारियों की शोषक नीति के कारण प्रजा निर्धन हो रही थी। कठोर परिश्रम के पश्चात् भी प्रजा को उसका फल नहीं मिलता था। दुर्दैव से अकबर के शासन काल में भयानक दुर्भिक्ष पड़े, महामारी का प्रकोप हुआ। इस दैवी आपदा ने प्रजा की स्थिति को हृदयविदारक बना दिया। शासन की ओर से कोई समुचित व्यवस्था न हो पाने के कारण मनुष्य अपने ही सगे-सम्बन्धियों के रक्त-मांस का भूखा हो गया। यह दुर्दशा शासन की ओर से प्रजा के प्रति घोर उपेक्षावृत्ति का पुष्ट प्रमाण थी।

संगठन की दृष्टि से तत्कालीन समाज का ढॉचा छिन्न-भिन्न हो गया था। वर्णाश्रम व्यवस्था का ढॉचा ऊपर से खड़ा अवश्य दिखायी देता था किन्तु उसकी आन्तरिक ऊर्जा समाप्त हो चुकी थी। कर्मनिष्ठा, परस्पर सहयोग और संगठन की प्रवृत्ति का लोप हो चुका था। अनेक प्रकार की सामाजिक रूढ़ियों और अंध विश्वासों का बोलबाला था। अपने-अपने पुश्तैनी व्यवसायों में लोग प्रतिबद्ध थे। स्वतन्त्र विकास के लिए उनके मार्ग अवरुद्ध थे। समाज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। राजमहलों से लेकर भारतीय नरेशों तक बहुपत्नीत्व का प्रचलन था। समाज में नारी मात्र भोग्य वस्तु बनकर रह गयी थी। उसकी शिक्षा-दीक्षा अथवा व्यक्तित्व-विकास की ओर किसी का भी ध्यान नहीं था। जन साधारण के बीच भी नारी का स्थान सम्मानजनक नहीं था।

समाज में उदात्त मानवीय मूल्यों का आत्यंतिक ह्रास हो चुका था। भोगवाद और न्यस्त स्वार्थपरता के कारण परस्पर प्रेम और विश्वास की भावना भी शिथिल पड़ गयी थी। उदरपूर्ति और वासना की तुष्टि जीवन का चरम लक्ष्य बन गयी थी। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए लोग निंदनीय पाखण्डों और छल-छद्मपूर्ण

आचरण का सहारा लेते थे। सारांशतः तत्कालीन समाज आर्थिक दृष्टि से विपन्न, सांस्कृतिक दृष्टि से पतनशील, नैतिक दृष्टि से भ्रष्ट और संगठन की दृष्टि से विशृंखल तथा निगतिगामी हो गया था।

समाज की इस दुरवस्था को देखकर तुलसीदास जैसे संवेदनशील व्यक्ति का व्यथित हो उठना स्वाभाविक था। अकबर की सुधारवादी नीति की ऊपरी चमक-दमक उन्हें आश्वस्त न कर सकी। वर्णाश्रम व्यवस्था में उनकी अटूट निष्ठा थी। वे उसे सामाजिक मर्यादा और लोक चेतना का सुदृढ़ आधार मानते थे। क्योंकि उसके अनुशासन से समाज और शासन दोनों नियन्त्रित होते थे। वर्णाश्रम व्यवस्था की व्यापक उपेक्षा से प्रेरित अपने क्षोभ को गोस्वामी जी ने निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त किया।

वरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर-नारी॥
द्विज श्रुति वंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुशासन॥

* * *

मातु-पिता बालकन्ह बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं।

इसी क्षोम को व्यक्त करते हुए गोस्वामी जी ने *कवितावली* में लिखा—

वेद पुरान विहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है।
वर्ण विभाग न आश्रय-धर्म दुनी दुख दोष दरिद्र दली है।

वासना की अतिरेकी स्थिति का संकेत करते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं कि वासना के चंगुल में मनुष्य नारी के संकेतों पर नट भरकट की भाँति विवश होकर नाचता है और स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि 'अनुजा-तनुजा' का विवेक भी समाप्त हो गया है। वासनाग्रस्त मनुष्य अपने माता-पिता और कौटुम्बिक जनों के प्रति भी कर्तव्यच्युत और उदासीन हो गया है।

दुर्भिक्ष से आक्रान्त और शासन द्वारा अकरुण भाव से निरन्तर शोषित भारतीय समाज की आर्थिक विपन्नता जन-जीवन के सम्मुख एक चुनौती बन गयी थी। इस भयानक विभीषिका के सम्मुख प्रजा वर्ग किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। इस दारुण दशा का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी कवितावली में लिखते हैं—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख,
बलि बनिक को न बनिज, न चाकर को चाकरी।

जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोचवस कहैं एक एकन सो कहाँ जाई का करी।

तुलसीदास ने अपनी कृतियों में अनेक स्थलों पर पर अपने समकालीन समाज की बहुविध विपन्नताओं और विकृतियों के प्रति गहरी संसक्ति के साथ अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की है। वस्तुतः गोस्वामी जी सात्विक वृत्तियों पर आधारित

साधनामय और सदाचारी जीवन प्रणाली के पक्षधर थे। अपने युग की निगतिगामी प्रवृत्तियों से क्षुब्ध होकर ही उन्होंने राम के पारिवारिक जीवन और रामराज्य के सामाजिक आदर्श को लोगों के सामने रखा। इस आदर्श से वे अपने समकालीन समाज को अवांछित युग प्रभाव से मुक्त करके स्वस्थ और रचनात्मक दिशा में सार्थक प्रस्थान के लिए प्रेरित करना चाहते थे।

राजनीतिक परिस्थिति

मुगल शासन की स्थापना के पूर्व की राजनीतिक स्थितियाँ अत्यन्त अस्थिर और उथल-पुथल की थी। मुगल काल के पूर्व जिन सात, इस्लाम धर्मावलम्बी शासकों ने शासन की बागडोर सँभाली उनमें प्रायः सभी धार्मिक दृष्टि से कट्टर, हिन्दू धर्म और जनता के प्रति असहिष्णु और विलासी स्वभाव के थे। एक तन्त्रीय शासन प्रणाली होने के कारण शासक का शब्द ही कानून था। किसी भी चीज़ में स्थिरता नहीं थी। सत्ता-प्राप्ति के लिए भाई भाई, पिता-पुत्र जैस आत्मीय सम्बन्धों का भी मूल्य नहीं था। छल और षड्यन्त्रों का व्यापार राजनीति का प्रमुख अंग बन गया था। राजनीति के क्षेत्र में विधान, मर्यादा या आदर्श का कोई स्थान नहीं था। परिणाम स्वरूप राजसत्ता का परिवर्तन शीघ्रता से तथा अप्रत्याशित रूप से होता था। शासक प्रायः अभिमानी, धर्मांध और विलासी थे। जरा से असन्तोष अथवा कोप की स्थिति में प्राणदण्ड की सज़ा सुना देना, हाथी के पॉव के नीचे कुचलवा देना आदि उनके लिए सामान्य बात थी। इन शासकों के शासनकाल में किसी प्रकार की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति की कोई सम्भावना नहीं थी। मुग़लकाल की इन राजनैतिक स्थितियों को गोस्वामी जी ने आंशिक रूप से अनुभव किया था और अधिकांश श्रुत अनुभव प्राप्त किया था।

मुग़लकाल में बाबर और हुमायूँ का शासनकाल भी युद्धों और संघर्षों का काल रहा। अकबर के शासनकाल के आरम्भिक बीस वर्ष भी संघर्ष के थे। राजपूतों के सहयोग से अकबर ने अपने विरोधियों को पराजित करके अपने राज्य का विस्तार किया। अकबर का शासनकाल अपेक्षाकृत शान्त एवं सुव्यवस्थित था किन्तु अकबर का शासन काल भी गोस्वामीजी की अपेक्षाओं के अनुकूल न था। अनेक राजनैतिक षड्यन्त्र उस काल में भी विद्यमान थे। जहॉगीर ने सत्ता के लोभ में अकबर से बगावत की थी। अकबर को अपने पुत्र को क़ैद करने के लिए विवश होना पड़ा था। इस प्रकार अनेक राजनीतिक परिवर्तन गोस्वामी जी ने अपनी आँखों से देखे थे।

राजनीतिक मूल्यहीनता और प्रजा-द्रोही शासन व्यवस्था से क्षुब्ध होकर

गोस्वामी जी ने रघुवंशी राजाओं के उस उदात्त और महान आदर्श को सामने रखा जिसमें प्रजा के बीच राजा की पहचान केवल छत्र और चामर के द्वारा होती थी। उन्होंने प्रेम, त्याग, कर्मनिष्ठा और नीतिबद्धता पर आधारित और प्रजापालन के प्रति संकल्पित उस रामराज्य का आदर्श प्रस्तुत किया जिसमें सभी प्रजा दैहिक, दैविक और भौतिक ताप से मुक्त थी। जिसमें वर्णाश्रम धर्म की सुदृढ़ व्यवस्था थी, राजा में प्रजा के प्रति सहज वात्सल्य और प्रजा में राजा के प्रति अटूट भक्ति थी। राजा और प्रजा के बीच किसी प्रकार की विषमता के लिए कोई अवकाश न था। राजा जब उदार भाव से प्रजा को देता था तो दान की अधिकता के कारण सभी को दिखायी पड़ता था किन्तु कर के रूप में जो लेता था वह मात्रा की अल्पता के कारण नगण्य प्रतीत होता था। गोस्वामी जी अपने आदर्श को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–

बरसत देखैं लोग सब कर्षत लखैन कोय।
तुलसी प्रजा सुभागते भूप भानु सम होय॥

गोस्वामी जी ने सत्ता लोलुप शासकों के कलह को देखा था। अपनी अधिकार लिप्सा को तृप्त करने के लिए लोग जघन्य से जघन्य अपराध करने के लिए तैयार थे। हिन्दू राजा भी अपनी दास्यवृत्ति और विलासी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप अनेक संकीर्ण मनोवृत्तियों के शिकार हो रहे थे। गोस्वामी जी ने रामराज्य के उस आदर्श को प्रस्तुत किया जिसमे कर्तव्यपालन को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है, राज्य भोग को नहीं। उसे सेवा की वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। श्रीराम विमाता कैकेयी के आदेश पर प्रसन्नता पूर्वक राज्य का त्याग कर देते हैं और 14 वर्ष का वनवास स्वीकार कर लेते हैं। भरत अपने भ्रातृप्रेम के कारण राज्य की व्यवस्था देखते हुए भी विरक्त का जीवन जीते हैं। सिहासन किसी के लिए काम्य नहीं है। त्याग और आदर्श का यह महान उदाहरण तत्कालीन राजनैतिक परिवेश मे एक नई चेतना और स्फूर्ति भरनेवाला था।

कलियुग के विवेचन के माध्यम से गोस्वामी जी ने अपने समय के राजनेतिक परिवेश को बड़ी स्पष्टता से चित्रित किया है। यद्यपि यह कलियुगवर्णन भागवत के वर्णन पर आधारित है तथापि उसमें गोस्वामी जी के समकालीन अनुभव का महत्त्व स्पष्ट है। अपने समय के अशिक्षित, दम्भी और क्रूरकर्मा शासकों का वर्णन करने हुए गोस्वामीजी लिखते हैं–

गोड गवार नृपाल कलि यवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद अब, केवल दंड कराल॥

गोस्वामी जी ने अपने मानस में जिस रामराज्य का चित्र स्थापित कर लिया था

उसी की प्रतिष्ठा में वे आजीवन लगे रहे। अपने समय के राजनीतिक कुचक्र में फँसी जनता के भीतर रामभक्ति के माध्यम से जातीय स्वाभिमान और सांस्कृतिक गौरव जागृत करने का भगीरथ प्रयासस करते रहे। उन्हें विलासी शासकों के अनुकरण पर पनपनेवाली विलासी प्रवृत्तियों को अवरूद्ध कर साधनामय उदात्त जीवन की सरणियों का संधान किया।

धार्मिक परिस्थिति

मुगल काल के पूर्व से ही धार्मिक क्षेत्र में अराजकता फैली थी। पठानों की कट्टरता हिन्दू धर्म के सामने विघातक बन गयी थी। हिन्दू जनता को धर्म परिवर्तन के लिए विवश किया जा रहा था। मन्दिरों और मूर्तियों को तोड़ा जा रहा था। इस्लाम धर्म को स्वीकार न करने वालों पर जजिया कर लगाया जा रहा था। तीर्थ स्थानों पर जाने के लिए प्रतिबन्ध लगाये गये। नये मन्दिरों के निर्माण अथवा पुराने मन्दिरों की मरम्मत पर भी रोक लगायी गयी। नाथपन्थी योगियों को एकेश्वरवादी होने के कारण इस्लाम के समीप माना गया किन्तु मूर्तिपूजकों को विधर्मी कहा जाता था, उनके प्रति कठोरता का व्यवहार किया जाता था। हिन्दू धर्म के संरक्षण का प्रश्न ही समाप्त हो गया था।

इस्लामी सत्ता के स्थापित हो जाने के पश्चात् कुछ मनीषियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच समन्वय के लिए प्रयत्न किया। इस दिशा में कबीर का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कबीर ने दोनों सम्प्रदायों की रूढ़ियों और धार्मिक कट्टरताओं पर कठोर शब्दों में निर्भीकता से प्रहार किया, अनेक प्रकार के असंगत अनुष्ठानों की निरर्थकता को रेखांकित किया किन्तु धार्मिक ऐक्य के स्थापन के प्रयास में उन्होंने सनातन काल से चली आ रही वर्ण व्यवस्था और भागवत धर्म की भी निंदा की जिसका अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा। कालान्तर में कबीर पंथ बारह शाखाओं में विभक्त हो गया। दादू, गुरुनानक और मलूकदास ने जिन पन्थों को चलाया वे भी कबीर पंथ से प्रभावित थे। वे भारतीय समाज में प्रचलित वर्णाश्रम धर्म की रूढ़ियों की घोर निंदा करते थे और उसे समूल नष्ट कर देने के लिए प्रयत्नशील थे। सिद्धों, नाथपंथी योगियों आदि के अपने पन्थ चल रहे थे। शैव मत की भी अनेक शाखाएँ बन गयी थी।

मुसलमानों के शासन के साथ सूफी सन्तों का आगमन भारत में हुआ। इन सन्तों ने भी हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास किया। इनकी प्रेम-साधना का प्रभाव भी हिन्दू जनता पर पड़ा। दातागंज बक्स और जुल्लाबी जैसे सूफ़ी सन्तों ने लाहौर में अपने धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार किया और उन्हें प्रतिष्ठा तथा

लोकप्रियता मिली। अहमद अब्दुल चिश्ती ने चिश्तिया पन्थ की स्थापना की। इसी पन्थ के ख्वाजा-मुई-उद्दीन चिश्ती ने पुष्कर को अपना केन्द्र बनाकर सूफ़ी सिद्धान्तों का प्रचार किया। इनके साधक व्यक्तित्व का हिन्दुओं पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। वस्तुतः इन्हीं के प्रचार से सूफी तत्त्व दर्शन भारत में लोकप्रिय हुआ। अनेक ब्राह्मणों ने भी उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। मुई-उद्दीन के शिष्य फरीदुद्दीन शकरगंज ने ईमामशाही पन्थ चलाया। माधुर्य भाव की अत्यत्याधिक संपृक्ति के कारण इनका भी व्यापक प्रभाव पड़ा। सुहरावर्दी पन्थ के सूफ़ियों का भी व्यापक प्रभाव पड़ा। सोलहवीं शताब्दी तक आते आते चिश्ती पन्थ की कादिरी शाखा का प्रभाव बहुत बढ़ गया। इसी पन्थ का सूफी सन्त मीनमीर दाराशिकोह द्वारा अत्यधिक सम्मानित था। अकबर स्वयं सूफ़ियों का अत्यधिक सम्मान करता था। सूफ़ियों की प्रतिष्ठा यहाँ तक बढ़ी कि मुहम्मद शहदुल्ला को विष्णु का निष्कलंक अवतार मानकर पूजने का प्रस्ताव किया गया।

सूफ़ी मत प्रेम साधना पर आधारित था। इसका व्यापक प्रभाव भी पड़ा। शासन की ओर से उसे हर प्रकार का सम्मान और प्रोत्साहत मिला। किन्तु यह संप्रदाय भी वर्णाश्रम धर्म की सनातन परम्परा का विरोधी था और उस पर आघात करता था। कबीर पन्थियों द्वारा धार्मिक अनुष्ठानों, वैदिक रीतियों प्राचीन शास्त्रों और अनेक प्रचलित प्रथाओं को दोषपूर्ण और अज्ञानपूर्ण ठहराने का प्रयास हो रहा था। धर्म के क्षेत्र में असंख्य पन्थ निर्मित हो गये थे। तात्त्विक एकता के अभाव में उनमें परस्पर मतभेद और कलह की स्थितियाँ उत्पन्न होती रहती थी। अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए दूसरों की निंदा भी की जाती थी। अनेकता का एक परिणाम यह भी हुआ कि उनमें अनेक प्रकार के पाखण्ड भी घर करने लगे। वस्तुतः धर्म के क्षेत्र में एक प्रकार की अराजकता पैदा हो गयी थी। बादशाह अकबर 'दीने इलाही' द्वारा एक समन्वित धर्म सिद्धान्त को प्रतिष्ठत करना चाहता था किन्तु वह सफल नहीं हुआ।

हिन्दू समाज में भी आचरण के धरातल पर धर्म की स्थिति अच्छी नहीं थी। धार्मिक केन्द्रों और पवित्र तीर्थ स्थलो पर पण्डे-पुजारियों की व्यावसायिक लोलुपता और चारित्रिक पतन का घिनौना दृश्य दिखायी पड़ता था। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए वे अनेक प्रकार के पाखण्डों और आडम्बरों का सहारा लेते थे। मारको पोलो, इब्नबतूता और बर्नियर जैसे विदेशी यात्रियों के वर्णनो में देवालयों और तीर्थस्थलों में भ्रष्टाचार और नैतिक पतन का जो वर्णन मिलता है उससे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। सिद्ध योगियों के भ्रष्ट आचरण का भी संकेत किया गया है।

उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण की स्थिति भिन्न थी। वहाँ अनात्मवादी बौद्ध दर्शन और एकेश्वरवादी इस्लाम धर्म का प्रचार अपेक्षाकृत मन्द गति से हुआ। इसलिए भागवत धर्म साधना की भक्ति प्रणाली को वहाँ अधिक प्रोत्साहन मिला। शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैत सिद्धान्त और मायावाद के विरोध में स्वामी रामानुजाचार्य ने भक्तिपरक वैष्णव धर्मसाधना का प्रचार किया। इस धर्म साधना का प्रवाह धीरे-धीरे उत्तर की ओर बढता गया। आनन्दतीर्थ द्वारा प्रवर्तित माध्व-वैष्णव सम्प्रदाय ने भक्ति धारा को तीव्रता से आगे बढ़ाया। विष्णु स्वामी के 'रुद्र सम्प्रदाय' द्वारा भक्ति धारा को बल मिला। स्वामी रामानन्द के समन्वयवादी सिद्धान्तों का भी अनुकूल प्रभाव पड़ा। आचार्य वल्लभ ने पुष्टि मार्ग की स्थापना करके कृष्णोपासना का अत्यन्त सरस मार्ग प्रस्तुत किया। इस मार्ग का उन्नयन उनके योग्य पुत्र गोसाई विट्ठलनाथ ने किया। गोसाई विट्ठलनाथ ने आठ कृष्णोपासक संगीत प्रेमियों को चुनकर श्री नाथ के मन्दिर में कीर्तन करने के लिए अष्टछाप की व्यवस्था की जिनकी कवित्वशक्ति और कण्ठ माधुरी से कृष्ण भक्ति में चुम्बकीय आकर्षण पैदा हो गया। इतना ही नहीं मुग़लों की राजधानी आगरा से केवल 30-35 मील की दूरी पर मुग़ल सत्ता को चुनौती देनेवाली 'युगल सरकार' की महान शक्ति की प्रतिष्ठा हुई। उसी गरिमा से युगल सरकार (राधा-कृष्ण) की आठ सेवाओं का विधान किया गया। कृष्ण की माधुर्यमयी भक्ति का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि हिन्दू ही नहीं अपितु ताल, रसखान, कादिर बक्स और अलीखान जैसे मुसलमान भी कृष्ण के अनन्य भक्त बन गये। आचार्य वल्लभ के अतिरिक्त निम्बार्क, बंगाल के चैतन्य महाप्रभु, महाराष्ट्र के सन्त तुकाराम, गुजरात के नरसी मेहता, राजस्थान की मीरा बाई, हितहरिवंश, स्वामी हरिदास आदि ने कृष्णोपासना को असीम लोकप्रियता प्रदान की।

सगुण भक्ति का यह प्रवाह एक सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में विकसित हुआ जिसमे पारम्परिक धर्म साधना की पुनर्प्रतिष्ठा के साथ ही उसे लोक जीवन से जोड़ने का सक्रिय प्रयास था, विलुप्तप्राय जातीय स्वाभिमान और सांस्कृतिक अस्मिता को पुनरुज्जीवित करने का महान उद्देश्य था। विभिन्न प्रकार के दबावों से आक्रान्त, विभिन्न पन्थों में विच्छिन्न, परस्पर विरोधी मतवादों में धूमिल, आडम्बरों और पाखण्डो से आच्छन्न, स्वार्थी और भ्रष्ट पंडे-पुजारियों से लांछित धर्मसाधना के लिए सगुणोपासना आश्वस्तिकारक आश्रय बनी। कृष्णोपासना के साथ मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की उपासना को भी प्रोत्साहन मिला।

गोस्वामी जी के पूर्ववर्ती एवं समकालीन युग में धार्मिक स्थितियाँ अराजकतापूर्ण थी। कबीर एवं उनके सजातीय पन्थों में जिस निर्गुण ब्रह्म की साधना

पर बल दिया जा रहा था उसमें जीवन और जगत के प्रति आत्यन्तिक उदासीनता का भाव था। नानक, दादू, मलूकदास जैसे सन्त इसी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दे रहे थे। सूफ़ियों की प्रेम साधना का तत्त्व भी शिक्षित वर्ग, विशेष रूप से दरबारी वातावरण में ही समझा जा सकता था। शैवों और वैष्णवों का द्वेषपूर्ण कलह भी हमारी सामासिक संस्कृति को विखण्डित करने का उमक्रम कर रहा था। सिद्धों, नाथो, अघोरियों की पाखण्डपूर्ण साधना पद्धति समाज में आतक पैदा कर रही थी। अनेक प्रकार की रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और पंडे-पुजारियो की व्यावसायिक वृत्तियों से धर्म का आचरणमूलक स्वरूप विलुप्तप्राय हो रहा था। तान्त्रिक और वामाचारी साधक अपने चमत्कारों से प्रभावित करने का प्रयत्न करते थे। अकबर का दीने इलाही भी हिन्दू धर्म की पारम्परिक साधन पद्धति के अनुकूल नहीं था। वैष्णव भक्तिधारा को छोड़कर सभी पंथ वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोधी थे। सभी पन्थ निवृत्ति मार्गी होने के कारण लोकजीवन के प्रति उदासीन थे।

गोस्वामी जी अपने समय की धार्मिक अराजकता, समाज विमुखता और बहुपन्थवाद से क्षुब्ध थे। वे वर्णाश्रम व्यवस्था को भारतीय संस्कृति और धर्म साधना का मेरुदंड मानते थे। रामानंद द्वारा प्रवर्तित सगुणोपासना का आश्रय लेकर उन्होंने राम भक्ति के माध्यम से भक्ति मार्ग की श्रुति सम्मत सनातन धारा को सतप्त लोक जीवन की ओर प्रवाहित करने का सकल्प लिया। अपने समय के दम्भी पन्थ प्रवर्तकों के प्रति अपनी खीझ को व्यक्त करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा—

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सद ग्रंथ।
दंभिन्ह निजमति कल्पिकरि प्रगट कीन्ह बहुत पंथ॥

गोस्वामी जी ने अनुभव किया कि देश की निराश और स्वाभिमान शून्य जनता में जीवन के प्रति आस्था और उल्लास के नूतन स्फुरण के लिए निर्गुण साधना का कोई उपयोग नहीं है। जिस प्रकार वल्लभाचार्य जी ने इस निर्णय पर पहुँचकर घोषित किया था—'सत्पीडा व्यग्र लोकेषु कृष्ण एव गातिर्मम्।' उसी प्रकार गोस्वामी जी ने भी अनुभव किया कि रामभक्ति ही वह एक मात्र उपाय है जिसके द्वारा लोक चेतना को उद्बुद्ध करना सम्भव है। निर्गुणोपासना की अन्यान्य सरणियाँ लोकजीवन को विशृंखल, आस्थाहीन और उद्भ्रान्त करने में ही सक्रिय थी। इसी स्थिति से संक्षुब्ध होकर गोस्वामी जी ने कहा था—

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहि वेदपुरान॥
श्रुति-सम्मत हरि-भक्ति-पथ संयुत विरति-विवेक।
तेहि परिहरहिं विमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक॥

उक्त दोहों में कबीर पंथी प्रचारकों, आख्यानों के माध्यम से अपने मत का प्रचार करने वाले सूफियों तथा भ्रांति अथवा अज्ञानवश अनेक प्रकार के वेद विरोधी पन्थों की कल्पना करने वालो पर गोस्वामी जी का रोष स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है।

गोस्वामी जी की समकालीन धार्मिक परिस्थिति सामाजिक जीवन के लिए किसी भी रूप मे उत्साह-वर्धक न थी। धर्मप्राण भारतीय जनता को जीवन के प्रति उत्साहित करने का कार्य धार्मिक चेतना के ही आधार पर सम्भव था। गोस्वामी जी सर्वजन सुलभ और सर्वजन स्वीकार्य किसी सामाजिक आदर्श के अभाव से होनेवाली विपरीतताओं का अुनभव बडी गम्भीरता से कर रहे थे। यही कारण था कि उन्होंने शक्ति, शील और सौन्दर्य के साक्षात् विग्रह मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री राम का उदात्त जीवन चरित्र समकालीन समाज के उत्कृष्टतम आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया।

साहित्यिक परिस्थिति

किसी मानव समुदाय या राष्ट्र के उत्थान-पतन में वहॉ के तत्कालीन साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। युग विशेष में निर्मित होनेवाला साहित्य जहॉ एक ओर समकालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थितियो का प्रमाण प्रस्तुत करता है। वही दूसरी ओर रचनाकार सन्तोष अथवा असन्तोष की प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति भी करता है। यदि साहित्य में समकालीन अभावात्मक स्थितियों, विकृतियों अथवा विसगतियो के प्रति व्यथित वेदना की अभिव्यक्ति हो तो उससे रचनाकार की सामाजिक ससक्ति और ध्येय धर्मिता प्रमाणिता होती है किन्तु यदि ऐसा न होकर किसी इतर उद्देश्य या लाभ-लोभ से अवसरानुकूल लेखन को बढ़ावा दिया जाय तो रचनाकार की दायित्वहीनता का प्रमाण मिलता है।

गोस्वामी जी के समय में दरबारी साहित्य का बोलबाला था। फारसी की गजले और कव्वालियॉ काव्य का आदर्श थी। शाही दरबारो में इन्हीं के अनुकरण पर लिखी गयी रचनाओ को सम्मानित किया जाता था। दरवारो मे रहनेवाले या राज्याश्रित रचनाकारों के लिए अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना ही प्रमुख उद्देश्य था। दरबार की शान शौकत, इमारतों की भव्यता, उत्सवों की सफलता आदि के अतिरिक्त आश्रयदाताओं की वीरता का अतिरजित वर्णन ही साहित्य का प्रमुख प्रतिपाद्य था। इसके अतिरिक्त विलासी आश्रयदातओं के मनोरंजन के लिए कामोत्तेजक साहित्य का सृजन किया जाता था। तत्कालीन साहित्य में उदात्त जीवन-मूल्यों और सात्विक सरणियों को प्रेरित-प्रतिष्ठित करने की शक्ति नहीं थी। कृष्णोपासक भक्तों ने अपने साहित्य में जिस संजीवनी शक्ति का सन्निवेश किया

था वह भी कालान्तर में वासना सिक्त होने लगा। राधा-कृष्ण की लीलाओं को सामान्य धरातल पर उतारकर वासनात्मक शृंगार का साधन बना लिया गया। मनोरंजन ही साहित्य का उद्देश्य बन गया। गंग जैसे प्रतिभाशाली कवि को कठोरता से दण्डित किया गया। कहते हैं कि किसी कवि को दस हज़ार रुपये का पुरस्कार केवल इस वर्णन के लिए दिया गया कि जहाँगीर के तेंदुए ने जंगली भैंसे पर किस प्रकार आक्रमण किया।

सूफ़ियों का साहित्य प्रेम-साधना पर आधारित था। वे अपनी दार्शनिक दृष्टि को लौकिक प्रेमाख्यानों के माध्यम से व्यक्त करते थे। आख्यानों के वर्णन में आध्यात्मिक तत्त्व का स्रोत अत्यन्त सूक्ष्म और सामान्य जनता के लिए अदृश्य होता था। इसलिए उसका भी समाज पर कोई अनुकूल प्रभाव नहीं पड रहा था। नीतिपरक रचनाएँ भी लिखी जा रही थीं किन्तु वे मात्रा में अल्प और कम प्रभावकारी थीं। शाही दरबार में पनपने वाले साहित्य का व्यापक प्रभाव पड़ रहा था परिणामस्वरूप समाज की साहित्यिक अभिरुचि शृंगारी साहित्य की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी।

इसी ह्रासशील साहित्यिक पृष्ठभूमि पर गोस्वामी जी का आविर्भाव हुआ। उन्होंने न तो किसी का आश्रय स्वीकार किया न कोई पद या पुरस्कार। उनकी दृष्टि में प्राकृत जनो का गुणगान काव्य विद्या का घोर अपमान है। उन्हीं के शब्दों में—

कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

उन्होंने सार्थक साहित्य को परिभाषित करते हुए कहा—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सबकर हित होई॥

गोस्वामी जी ने अपने युग की पतनशील साहित्यिक प्रवृत्ति को एक रचनात्मक दिशा दी और प्रभूत लेखन तथा साधनामय सात्विक जीवन के साक्ष्यपर साहित्य की सार्थक परम्परा का सूत्रपात किया। साहित्य-सृजन उनके लिए लोक मगल विधान का साधन था स्वयं में साध्य नहीं। इसलिए कहा गया है—

कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।

3
कृति परिचय

गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। 'मूल गोसाई चरित्र' में रचनाकाल का निर्देश करते हुए बारह ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है किन्तु इस तालिका में *कवितावली* का समावेश नहीं है। सम्भव है कि *कवितावली* के छन्दों की रचना अलग-अलग स्थानों और काल खण्डों में हुई हो इसलिए उसका नाम इस सूची में न आ सका हो। शिवसिंह सेंगर के ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' में गोस्वामीजी की अठारह कृतियों का उल्लेख हैं। जार्ज ग्रिथर्सन ने अपने 'इण्डियन एण्टिक्वेटी' नामक ग्रन्थ मे उनके सोलह ग्रन्थों का उल्लेख किया है। मिश्र बन्धुओ ने अपने इतिहास ग्रन्थ *हिन्दी नवरत्न* में गोस्वामी जी के पचीस ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत विवरण में तुलसी के नाम पर पैतीस ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी की कृतियो के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। इस मत भिन्नता का एक कारण यह है कि कुछ विद्वानों द्वारा गोस्वामी जी की कृतियों के स्फुट अंशों को ही स्वतन्त्र ग्रन्थ मान लिया गया है और दूसरा कारण यह है कि अन्य कृतियों में भाषा और भाव के स्तर पर जो भेद दिखायी पड़ता है उससे भी अनेक ग्रन्थों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध हो जाती है। अधिकांश विद्वानों ने निम्नलिखित बारह ग्रन्थों को गोस्वामी जी की प्रामाणिक कृति माना है–

1. रामलला नहछू	*2. बैराग्य संदीपिनी*	*3. बरवै रामायण*
4. पार्वतीमंगल	*5. जानकी मंगल*	*6. रामाज्ञा प्रश्न*
7. दोहावली	*8. कवितावली*	*9. गीतावली*
10. कृष्ण गीतावली	*11. रामचरितमानस*	*12. विनयपत्रिका*

पण्डित रामगुलाम द्विवेदी ने अपने एक छन्द में इन्हीं रचनाओं का उल्लेख किया है। यथा–

रामलला नहछू त्यों विराग संपदीपिनी हूँ,
बरवै बनाई बिरमाई मति साई की।
पारवती जानकी के मंगल ललित गाय,
रम्य राम आज्ञा रची कामधेनु नाई की।
दोहा औ कवित्त गीतबंध कृष्ण राम कथा,
रामायन विनय माहि बात सब ठाई की।
जग में सोहानी जगदीश हूँ के मनमानी,
संत सुखदानी बानी तुलसी गोसाई की।

रामलला नहछू

नहछू एक प्रकार का संस्कार हैं जो यज्ञोपवीत और विवाह संस्कार के समय सम्पादित किया जाता है। दोनों अवसरों पर समान भाव भूमि के मंगल गीत गाये जाने की पुरानी परम्परा है। इन गीतों में अवसरानुकूल उल्लास और सरसता का आधिक्य होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि *रामलला नहछू* विवाह के अवसर का नहछू न होकर यज्ञोपवीत के अवसर का है क्योंकि विवाह के समय तो राम अयोध्या में थे ही नहीं। कुछ लोग यह भी अनुमान लगाते हैं कि इसकी रचना मिथिला में की गयी है। नहछू के वर्णन की शृंगारिकता के साक्ष्यपर कुछ विद्वान इसे गोस्वामी जी के स्वभाव के विपरीत मानते हैं और इसी आधार पर इसे गोस्वामी जी की कृति स्वीकार नहीं करते। किन्तु अधिकांश विद्वान निर्विवाद रूप से इसे गोस्वामी जी की कृति मानते हैं।

रामलला नहछू चार चरण वाले 20 छन्दों की छोटी-सी कृति है। ये छन्द सोहर शैली में और बोलचाल की अवधी में लिखे गये हैं। सोहर उत्तर भारत की महिलाओं का अतिप्रिय छन्द है। यह मुख्य रूप से पुत्र उत्पन्न होने पर महिलाओं द्वारा गाया जाता है। किन्तु यज्ञोपवीत, मुंडन, कर्ण वेध, विवाह आदि अनेक मांगलिक अवसरों पर यह छन्द अत्यन्त लोकप्रिय है। संक्षेप में लोक संस्कृति का भावमय अभिव्यंजन इसी छन्द के माध्यम से सर्वाधिक होता है।

रामलला नहछू में मंगलाचरण और उसकी फलश्रुति का उल्लेख है। उसके पश्चात् अयोध्या के उल्लासमय वातावरण का मनोरम चित्रण है। इसके पश्चात् उपस्थित सुन्दरियों के मंगलगान के साथ राम को गंगाजल से स्नान कराने का वर्णन है। प्रजावर्ग की लोहारिनि, अहिरिनि, तमोलिनि, मोचिनि, दरजिनि, मालिनि, बारिनि नाउनि आदि स्त्रियों की उपस्थिति, उनके विशिष्ट शृंगार और क्रिया-कलाप का वर्णन है। नहछू में नाउनि की विशिष्ट भूमिका होती है। उसी के माध्यम

से सारे अनुष्ठान का सम्पादन होता है। इसलिए गोस्वामी जी ने ग्यारह छन्दों में नाउनि के साज शृंगार, हाव-भाव, हास-परिहास और विभिन्न कार्यों का वर्णन किया है। नाउनि से सम्बन्धित कार्यों के वर्णन के पश्चात् निछावर का वर्णन है और अन्त में ग्रन्थ की फलश्रुति का विवेचन है।

इस लघुखण्ड काव्य में गोस्वामी जी की प्रबन्ध पटुता, लोकाचार की सूक्ष्म जानकारी, भाषा प्रयोग की विलक्षण क्षमता और श्रीराम में अनन्य भक्ति का पुष्ट प्रमाण मिलता है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त के अनुसार *रामलला नहछू* का रचनाकाल सम्वत् 1611 है।

वैराग्य संदीपिनी

यह कृति 'नहछू' के बाद की मानी जाती है। यद्यपि इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में मतभेद है तथापि अधिकांश विद्वान रचनाकाल सम्वत् 1614 मानते हैं। इसमें कुल 62 छन्द हैं जिनमें 46 दोहों, 2 सोरठों और 14 चौपाइयों का समावेश है। इस कृति में अवधी और ब्रजभाषा का मिश्रित रूप मिलता है। इस कृति के सम्बन्ध में स्वयं गोस्वामी जी ने लिखा है–

तुलसी वेद-पुरान मत, पूरन शास्त्र विचार।
यह विरोग संदीपिनी, अखिल ज्ञान को सार॥

इस कृति का प्रमुख प्रतिपाद्य वैराग्य के स्वरूप का निरूपण और उससे प्राप्त होनेवाली आध्यात्मिक शान्ति की व्याख्या है। शान्ति प्राप्त कर लेने पर साधक के व्यक्तित्व में परिवर्तन आ जाता है। इसी अनुसंग से सन्तों के विशिष्ट लक्षणों और स्वभावगत गुणों का वर्णन किया गया है, उनके स्वभाव का गौरव-गान भी किया गया है। सच्चे सन्तों के उपास्य भगवान राम के स्वरूप का वर्णन किया गया है और सगुण-निर्गुण के अभेद को बलपूर्वक रेखांकित किया गया है। शास्त्रों के साक्ष्य पर मनुष्य के शुभाशुभ कर्मो का विवेचन किया गया है।

इस कृति मे प्रबन्धात्मकता नहीं है। काव्य-कौशल के प्रति भी विशेष सावधानी नहीं बरती गयी है। इसका उद्देश्य विरक्त जीवन-सरणियों के आदर्शरूप को प्रस्तुत करके, वैराग्य से मिलनेवाली चरम शान्ति के स्वरूप और महात्म्य को निर्देशित करना है। इसीलिए स्वयं गोस्वामी जी ने स्वीकार किया है कि यह वेद, पुराण एवं अन्य शास्त्रों का निचोड़ है। अपने उद्देश्य में यह कृति पूर्णतया सफल है।

बरवै रामायण

यह कृति कुल 69 बरवै छन्दों की छोटी कृति है। इस कृति में रामचरित मानस

की भाँति काण्डों का विभाजन किया गया है। बालकाण्ड में 19, अयोध्याकाण्ड में 8, अरण्यकाण्ड में 6, किष्किंधाकाण्ड में 2, सुन्दरकाण्ड में एक और उत्तरकाण्ड में 27 छन्द हैं। प्रत्येक काण्ड में छन्दों की संख्या सम्बन्धी असन्तुलन, कथा सूत्र में विशृंखलता, घटनाओं और पात्रों के क्रमिक विकास के अभाव से यह स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी का उद्देश्य बरवै छन्दों में प्रबन्धात्मक कृति प्रस्तुत करना नहीं था बल्कि विभिन्न समयों में गोस्वामी जी ने 'मानस' के प्रसंगों को बरवै छन्दों में अभिव्यक्त किया था। ये बरवै अलग-अलग अवसरों पर उनके भक्त हृदय के समुच्छलित उद्‌गार है जिन्हें बाद में प्रसंगानुसार काण्डों में विभाजित कर दिया गया।

बरवैरामायण में रामचरितमानस की कथा-योजना का अभाव है। इसमें प्रसंगों को नूतन उद्‌भावनाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है। विशेष रूप से उत्तर काण्ड के बरवै छन्दों में मानस की किसी भी कथा का संकेत नहीं मिलता।

काव्य-कला की दृष्टि से यह गोस्वामी जी की उत्कृष्ट रचना है। शब्द प्रयोग, अलंकार योजना और सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से यह कृति असाधारण है। भावों और विचारों के कलात्मक एवं प्रभावी प्रस्तुतीकरण में कवि को चमत्कारिक सफलता मिली है। इस कृति में शृंगार और भक्ति रस का ही प्राधान्य है। कलात्मक सिद्धि के बावजूद भक्तिभाव अधिक उदग्र है। इसीलिए अन्त में गोस्वामी जी भगवान श्रीराम से प्रत्येक जन्म में और प्रत्येक योनि में अनन्य भक्ति का वरदान माँगते हैं।

पार्वतीमंगल

यह 90 छन्दों का लघु खण्ड काव्य है। जिसमें ठेठ अवधी में लिखे 74 मंगल सोहर और 16 हरिगीतिका छन्दों का समावेश है। इसमें प्रायः 4 सोहर छन्द के पश्चात् एक हरिगीतिका छन्द रखा गया है। किन्तु कहीं कहीं पर 6 सोहर छन्द के पश्चात् हरिगीतिका छन्द आया है। अर्थात् छन्दों के क्रम में एक रूपता का अभाव है।

इस कृति के आरम्भ में पार्वती के जन्म के समय हिमवान और मयना के उल्लास और उछाह के साथ उनके भाग्य को सराहा गया है। विवाह योग्य हो जाने पर रूप और गुण की खानि पार्वती के लिए अनुकूल वर की प्राप्ति के लिए नारद जी शिव की उपासना का परामर्श देते हैं। माता-पिता के आदेश से पार्वती ने शिव की आराधना आरम्भ की। इसी अवसर पर देवताओं की प्रेरणा से कामदेव ने शिव का तप भंग करने का प्रयास किया फलतः वह शिव द्वारा भस्म कर दिया

था। रति के करुण विलाप से द्रवित होकर शिव ने उसे वरदान दिया। माता-पिता के रोकने पर भी पार्वती ने अपनी तपस्या जारी रखी। उन्होंने निराहार रहकर घोर तपस्या का अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया। पार्वती के तप से प्रभावित हो स्वयं शिव ब्रह्मचारी के वेश में प्रस्तुत हुए। ब्रह्मचारी ने पार्वती से शिव के स्वभाव, आचरण, आर्थिक अभाव, अज्ञात कुल शील, खान-पान आदि का वर्णन करके पार्वती के मन में महादेव के प्रति अरुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। किन्तु पार्वती उनकी बात से रंचमात्र भी प्रभावित न हुई। वे क्रुद्ध हुई और ब्रह्मचारी को बकवादी कहकर दूर हटाने का आदेश किया। सच्चे प्रेम की दृढ़ता को परखकर शिव अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुए और पार्वती की तपस्या सफल हुई।

शिव पार्वती के विवाह की तैयारी आरम्भ हुई। हिमवान के यहाँ सभी नदी, तालाब, पर्वत आदि एकत्र हुए। उधर शिव के साथ देवता, भूत, प्रेत आदि भी अपनी विचित्र वेशभूषा में बारात के लिए तैयार हुए। गजचर्म और नर मुण्ड मात्र से सुशोभित विचित्र वर को देखकर अगवानी करने वाले भयभीत हो गये। माता मयना भी विलाप करने लगी किन्तु शिव ने अत्यन्त मनोहर रूप धारण कर लिया और सभी प्रसन्न हो गये। इसके पश्चात् प्रसन्न मन से परिछन, आरती, शाखोच्चार, कन्यादान, हवन, भाँवर, कोहबर आदि विवाह की लोक रीतियाँ सम्पन्न की गयी। विभिन्न मांगलिक अवसरों पर परम्परानुसार सुन्दरियों ने गीत गाये। आकाश में नगाड़े बजे और देवताओं ने पुष्पवृष्टि की। देवताओं को भेंट से सम्मानित किया गया। पार्वती को विदा कराकर शिवजी कैलास चले गये। विवाह की इस कथा का आधार कालिदास कृत *कुमार संभव* हैं।

'पार्वती मंगल' अपनी मार्मिकता, सरसता, प्रबन्ध पटुता और प्रभावात्मकता में अनूठा है। विभिन्न रसों, अलंकारों और शब्द शक्तियों के सटीक और औचित्यपूर्ण उपयोजन के साथ हृदयग्राही मार्मिक प्रसंगों की सफल अभिव्यजना ने इसे सचमुच 'तिलोक सोभा-सार' बना दिया है।

इस ग्रन्थ के रचनाकाल के सम्बन्ध में स्वयं गोस्वामी जी ने संकेत किया है–

जय संवत, फागुन, सुदि पाँचै गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउ मंगलु सुनि सुख छिनु-छिनु॥

इस संकेत के अनुसार पार्वतीमंगल का रचनाकाल संवत 1643 फाल्गुन शुक्ला पंचमी दिन गुरुवार ठहरता है।

जानकी मंगल

यह कृति पूर्वी अवधी में लिखी गयी 120 छन्दों की अत्यन्त सफल प्रबन्ध रचना है। इसका प्रमुख प्रतिपाद्य 'सिय-रघुवर विवाह' है। इसमें 96 मंगल सोहर और 24 हरिगीतिका छन्दों का समावेश है। चार मंगल छन्दों के बाद एक हरिगीतिका छन्द रखा गया है। कथा प्रवाह और प्रभाव की दृष्टि से यह कृति गोस्वामीजी की प्रौढ़ रचना है।

कृति के आरम्भ में महाराज जनक के प्रण और सीता स्वयंवर का उल्लेख किया गया है। इसके अनन्तर विश्वामित्र के अयोध्या आगमन, महाराज दशरथ द्वारा उनका यथोचित सम्मान और सत्कार, विश्वामित्र द्वारा राम-लक्ष्मण को अपने साथ ले जाने का प्रस्ताव, विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण का प्रस्थान, ताड़का बध, विश्वामित्र द्वारा राम-लक्ष्मण को विद्यादान, विश्वामित्र का निर्विघ्न यज्ञ सम्पादन, विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण का जनकपुर के लिए प्रस्थान, मार्ग में अहिल्या का उद्धार आदि प्रसंगों को बड़े प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। इसके पश्चात् सीता और राम के विवाह का विस्तृत वर्णन है। जनकपुर के नर-नारी राम-लक्ष्मण को देखकर ब्रह्मानन्द का सुख प्राप्त करते हैं। विश्वामित्र सूर्यवंश कुलभूषण राम-लक्ष्मण के गुणों की प्रशंसा करते हैं। राम और लक्ष्मण के लोकोत्तर सौन्दर्य को देखकर जनकपुर के नर-नारी मुग्ध हो जाते हैं किन्तु उन्हें इस बात का भी ध्यान आता है कि ये कोमलकाय किशोर शिव के कठोर धनुष को किस प्रकार तोड़ पायेंगे ? कुछ लोग उनके पराक्रम पर दृढ़ विश्वास प्रकट करते हैं। महारानी सुनयना शिवधनुष की कठोरता का अनुमान करके पश्चात्ताप करती है। इसी अवसर पर सीता को यज्ञशाला में लाया गया। राम और सीता के अलौकिक सौन्दर्य को देखकर सभी सराहना करने लगे। बंदी जनों ने जनक प्रण की घोषणा की। अविवेकी राजाओं ने धनुष तोड़ने का प्रयास किया किन्तु वे धनुष को हिला तक न पाये। रावण और बाणासुर जैसे बलवानों ने धनुष को बिना हाथ लगाये वहाँ से पलायन किया। अन्त में विश्वामित्र के आदेश से राम ने बिना विशेष प्रयत्न के ही धनुष को तोड़ दिया।

धनुर्भंग के पश्चात् राम के साथ सीता का विवाह निश्चित हो गया। विश्वामित्र की आज्ञा से कुलगुरु शतानंद को समाचार लेकर अयोध्या भेजा गया। जनकपुर में मांगलिक वातावरण व्याप गया। विवाह तैयारियाँ ज़ोर-शोर से होने लगीं। महाराज दशरथ बारात लेकर जनकपुर आये। कुल की पारंपरिक रीति और वैदिक विधान के अनुसार सीता और राम का विवाह सम्पन्न हुआ। अग्नि स्थापन से लेकर कन्यादान और कोहबर आदि की सभी विधियाँ पूरी की गयी। इसी समय

जनक के अनुज की दो पुत्रियों का विवाह भरत और शत्रुघ्न के साथ तथा छोटी बहन का विवाह लक्ष्मण के साथ कर दिया गया। ज्योनार हुआ और मधुर स्वरों में गाली गाई गयी और दूसरे दिन पुत्रवधुओं के साथ बारात बिदा हुई। विदाई के अवसर पर गोस्वामी जी ने विदा होती हुई जानकी के विरह में आबालवृद्ध और पशु-पक्षियो की विरह-वेदना का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है।

अयोध्या को वापस लौटती हुई बारात के सामने परशुराम प्रस्तुत होते हैं। राम उनके क्रोध को शान्त कर देते हैं। बारात अयोध्या पहुँचती है। इस प्रसंग मे अयोध्या की नगर-सज्जा का बड़ा मनोरम वर्णन है। इसी प्रसंग में माताओं द्वारा परिछन और आरती उतारने की लोकरीतियों का वर्णन किया गया है; दान, देवता और पितरों की पूजा का विधान भी दिया गया है। सभी ने वर-वधू को आशीर्वाद दिया। ग्रन्थ के अन्त मे फलश्रुति का उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी लिखते है—

उपवीत ब्याह उछाह जे सियराम मंगल गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिन पावहीं॥

जानकीमंगल की रचना का प्रमुख उद्देश्य महत्त्वपूर्ण मांगलिक अवसरों पर गाने के लिए सुगम गीतों को प्रस्तुत करना था। इसीलिए प्रबंधगत शैथिल्य और घटनाओ के सक्षिप्त होने के बावजूद इसकी पद योजना, लयबद्धता, संगीतात्मकता और श्रुतिमधुरता में चुम्बकीय आकर्षण है। इस रचना की मूल प्रेरणा लोक-संस्कृति को परिष्कृत और प्रतिष्ठित करने की कामना है। *जानकी मंगल* पर वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ *जानकी मंगल* में परशुराम यज्ञशाला में उपस्थित न होकर मार्ग में मिलते है। यह प्रसंग वाल्मीकि रामायण से मेल खाता है। जनक से राम को शिव धनुष दिखाने के लिए विश्वामित्र का आग्रह, कन्यादान का वर्णन आदि प्रसंग अध्यात्म रामायण के अनुसार प्रस्तुत किये गये है। *वाल्मीकि रामायण* के अनुसार ही *जानकी मंगल* में भी पुष्प वाटिका में राम और सीता के मिलन का प्रसंग नहीं दिखाया गया है। मानस के प्रसंगों को *जानकी मंगल* मे अति संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया गया है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त के अनुसार इस कृति का रचनाकाल सम्वत् 1627 है।

रामाज्ञा प्रश्न

इस कृति की भाषा ब्रजभाषा है और दोहा छन्द मे लिखी गयी है। सम्पूर्ण कृति सात सर्गो में विभाजित है। प्रत्येक सर्ग में सात सप्तकों और प्रत्येक सप्तक मे

सात दोहों का समावेश है। कुल दोहों क संख्या 343 है।

रामाज्ञा प्रश्न की रचना के सम्बन्ध में यह जनश्रुति प्रचलित है कि इसकी रचना गोस्वामी जी ने काशी के प्रह्लादघाट निवासी अपने आत्मीय मित्र गंगाराम की सहायता के लिए की थी। कहा जाता है कि राजघाट के गढ़वार वंशीय राजकुमार आखेट के लिए गये थे। समय से वापस न लौटने पर आशंका की गयी कि वे अवश्य ही किसी भयानक संकट में फँस गये हैं। राजा ने ज्योतिषी गंगाराम को बुलाकर ज्योतिष के आधार पर राजकुमार का समाचार जानना चाहा और गगाराम को चेतावनी दी कि यदि उनकी बात सत्य सिद्ध होगी तो उन्हें पुरस्कृत किया जायेगा और यदि मिथ्या सिद्ध हुई तो उन्हें कठोर दण्ड दिया जायेगा। अपने मित्र गंगाराम को इसी संकट से मुक्त करने के लिए गोस्वामी जी ने इस सकुन विचार वाले ग्रन्थ की रचना की। इसी ग्रन्थ के आधार पर गंगाराम ने महाराज से दूसरे दिन राजकुमार के सकुशल लौट आने की भविष्य वाणी की। दूसरे दिन राजकुमार के सकुशल लौट आने पर गंगाराम को एक लाख मुद्राओं का पुरस्कार दिया गया। गंगाराम के बहुत आग्रह करने पर गोस्वामी जी ने केवल दस हजार मुदाएँ स्वीकार की और उस धन राशि से दक्षिणाभिमुख हनुमान के दस मन्दिर बनवाये, शेष धन राशि गंगाराम को दे दी। ग्रन्थ के अन्त में गंगाराम का नामोल्लेख होने के कारण इस जनश्रुति की पुष्टि होती है। सातवें सप्तक का अन्तिम दोहा इस प्रकार है—

सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमि सुर, गोगन गंगाराम॥

यदि यह जनश्रुति पूर्णतया प्रामाणिक न हो तो भी इतना स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ शकुन विचार की दृष्टि से ही लिखा गया है। सम्भव है गोस्वामी जी ने ज्योतिष में विश्वास रखनेवाली जनता के लिए भाग्यदशा और शुभाशुभ पर विचार के लिए सर्वसुलभ आधार निर्मित किया हो और उसके माध्यम से राम भक्ति का प्रचार और प्रसार करना चाहा हो।

प्रश्न विचार की दृष्टि से लिखी होने के कारण इस कृति में कथा प्रवाह और घटनाओं की सुसूत्रता में शैथिल्य है। यद्यपि सर्गों का विभाजन और घटनाओं का नियोजन प्रबन्धकाव्य की शैली में ही किया गया है। तथापि मार्मिक स्थलों का यथोचित विस्तार एवं विवेचन प्रबन्ध के अनुकूल नहीं है। इतना अवश्य है कि प्रश्न विचार अथवा शकुन विचार को उद्देश्य बना कर लिखी गयी यह प्रबन्ध कृति अपने आप में एक उदाहरण है।

रामाज्ञा प्रश्न में मंगलाचरण से आरम्भ करके सरस्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, गणेश,

शंकर, विष्णु, गुरु और कुछ विशिष्ट भक्तों के पुण्य स्मरण के महत्त्व को रेखांकित करते हुए बालकाण्ड के प्रसंग का आख्यान किया गया है। दूसरे सर्ग में अयोध्याकाण्ड और अरण्यकाण्ड की कथा का उल्लेख है। तीसरे सर्ग में अरण्य काण्ड के उत्तरार्ध से लेकर सम्पूर्ण किष्किंधा काण्ड की कथा का समावेश है। चतुर्थ सर्ग में पुनः बालकाण्ड की कथा को दुहराया गया है। पाँचवे सर्ग में सुन्दर काण्ड और लंका काण्ड की कथा का वर्णन है। छठवें सर्ग में राम की आज्ञा से इन्द्र द्वारा की गयी अमृत वर्षा और युद्ध में मारे गये वानर भालुओं के जीवित हो जाने की घटना का वर्णन है। इसी सर्ग में राम के अयोध्या लौटने, सिंहासनारूढ़ होने, बक और उलूक को न्याय देने, ब्राह्मण के मृत बालक के जीवित करने, सीता के प्रति आरोपित लांछन, सीता निर्वासन, वाल्मीकि के साथ लव-कुश का राम के दरबार में आगमन आदि प्रसंगों को समावेश है। सातवें सर्ग में स्वतन्त्र दोहे हैं। इसी सर्ग में शकुन विचारने के विभिन्न निर्देश दिये गये है और कहा गया है कि एक दिन में तीन से अधिक प्रश्नों का विचार नहीं करना चाहिये।

इस कृति के रचना काल के सम्बन्ध इस प्रकार का संकेत है—

सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नय बान।
होइ सुफल सुभ जासु जसु, प्रीति प्रतीति प्रमान ॥

इस दोहे के आधार पर इस कृति का रचनाकाल सम्वत् 1621 ठहरता है। 'रामाज्ञा प्रश्न' में निरूपित कथा पर वाल्मीकि रामायण की कथा का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है। परशुराम का मार्ग में मिलना, ब्राह्मण के पुत्र का जीवित होना, उलूक-सवान विवाद, लव-कुश जन्म, सीता-निर्वासन आदि प्रसंग वाल्मीकि रामायण से ही लिए गये हैं।

दोहावली

यह कृति ब्रजभाषा में लिखी गयी है। इसमें 573 दोहा और सोरठा छन्दों का संग्रह है। इसमें *वैराग्य संदीपिनी* के 2, *रामाज्ञा प्रश्न* के 35 और *रामचरित मानस* के 85 दोहों का समावेश कर लिया गया है। शेष 451 दोहे नये लिखे गये हैं। दोहावली में विषय का असीम वैविध्य है। इसमें भक्ति, धर्म, नीति, आचार-विचार, प्रेम, विवेक, राम-महिमा, सन्त महिमा, नाम महिमा, शास्त्रमत जैसे विविध विषयों का समावेश है। सारांशतः यह कृति सार्थक जीवन की आचार संहिता है। इस कृति में गोस्वामी जी के अनन्य भक्त, उपदेशक, सूक्तिकार, नीतिवेत्ता, भावविह्वल प्रेमी, नीर-क्षीर-विवेकी, सामाजिक कल्याण के प्रति संकल्पशील आदि अन्यान्य रूपों का परिचय मिलता है।

सहज एवं प्रसादपूर्ण भाषा में लिखे जाने के कारण यह कृति अत्यन्त लोकप्रिय है। दोहों और सोरठों जैसे छोटे छंदों में गम्भीर भावों को बड़े कौशल से निरूपित कर दिया गया है। इन दोहों और सोरठों को अशिक्षित जन समुदाय भी कण्ठस्थ कर लेता है और अवसर आने पर अकाट्य प्रमाण के रूप में उद्धृत कर देता है। यह व्याप्ति उनकी लोक प्रियता का ही प्रमाण है। जीवन की यथार्थ अनुभूति साधनता, विचारों की उदात्तता और उद्देश्य की महानता के कारण ये दोहे और सोरठे आप्त वाक्य वाली कहावतों की भाँति प्रयुक्त किये जाते हैं। संप्रेष्य वस्तु की श्रेष्ठता के साथ ही इन छन्दों का शिल्प भी सर्वथा निर्दोष और मनोहारी है। अलंकारों के समुचित और सार्थक प्रयोग से चमत्कारपूर्ण प्रभावान्विति पैदा हुई है। विशेष रूप से उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग लक्षणीय महत्त्व रखता है। रस परिपाक की दृष्टि से भी अधिकांश दोहे और सोरठे रस सिद्ध हैं। संप्रेष्य वस्तु को स्पष्ट और प्रभावी बनाने के उद्देश्य से प्राकृतिक उपादानो का भी प्रभावपूर्ण उपयोग किया गया है। वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से मुक्तक परम्परा की यह अनूठी कृति है।

दोहावली किसी काल विशेष की रचना न होकर गोस्वामी जी के सम्पूर्ण साहित्यिक जीवन से सम्वन्धित है। इसमें उनकी आरम्भिक रचना *वैराग्य सदीपिनी* के दोहे संगृहीत हैं और मृत्यु का सकेत देनेवाले दोहे भी हैं जो निश्चय ही जीवन के अन्तिम दिनों में लिखे गये होंगे। अन्तस्साक्ष्य के आधारों पर काल विषयक जो संकेत उपलब्ध होते है वे भी अलग-अलग काल-खण्डों के हैं। इसमें रुद्रबीसी, बाहुपीडा, वृद्धावस्था, मृत्युबोध से सम्बन्धित दोहे हैं। यदि *वैराग्य सदीपिनी* के रचनाकाल से लेकर गोस्वामी जी की मृत्यु तक इसके रचनाकाल की व्याप्ति स्वीकार कर ली जाय तो इसका रचनाकाल सम्वत् 1614 से सम्वत् 1680 के बीच फैला हुआ मानना समीचीन होगा।

कवितावली

कवितावली ब्रजभाषा मे लिखित मुक्तक काव्य है। कथा योजना और काण्डों के विभाजन को देखकर इसे प्रबन्ध काव्य समझने का भ्रम होता है। यह कथा-योजना अथवा काण्डों का वर्गीकरण बाद की व्यवस्था प्रतीत होती है। वैसे इसका प्रत्येक छन्द अपने आप में पूर्णतया स्वतन्त्र है। इससे स्पष्ट होता है कि इनकी रचना स्फुट रूप से ही की गयी थी। इस कृति में कुल 369 छन्द है। 325 छन्दों को कथा-क्रम से सात काण्डों में विभाजित किया गया है। शेष 44 छन्दों को हनुमान वाहुक के अन्तर्गत परिशिष्ट के रूप में जोड़ा गया है। काण्डों में छन्दों के विभाजन

का सानुपातिक क्रम नहीं है। बालकाण्ड में 22 अयोध्याकाण्ड में 28 अरण्यकाण्ड में किष्किंधा काण्ड में 1 (एक) सुन्दरकाण्ड में 32, लंका काण्ड में 58, उत्तर काण्ड में बाहुक को मिलाकर 227 छन्दों का समावेश है। काण्डों में छन्दों की संख्या की यह असमानता इस तथ्य का संकेत करती है कि इस कृति को प्रबन्ध काव्य के रूप नहीं लिखा गया। विभिन्न समयों में अलग-अलग स्थानों पर लिखे गये कवित्त और सवैयों का यह संग्रह है जिसे प्रसंगानुसार कालान्तर में काण्डों में विभाजित कर दिया गया।

कथाक्रम की दृष्टि से बालकाण्ड में राम के बालरूप और बाल-लीला की मनोरम झॉ की प्रस्तुत की गयी है तत्पश्चात् सीता स्वयंवर का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें जनक के प्रण की घोषणा से लेकर धनुभंग और परशुराम सम्वाद का प्रसंग बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत किया गया है जिसमे केवट की अनन्य भक्ति का सुन्दर उदाहरण मिलता है। सीता की शारीरिक कोमलता, राम-सीता की परस्पर प्रीति, कोमल हृदय ग्रामवासी स्त्री-पुरुषों की भावनाओं आदि का तलस्पर्शी चित्रण है। ग्राम बधूटियॉ सीता से वार्तालाप करती हैं और प्रेमविभोर होकर राम लक्ष्मण और सीता के रूप, गुण और शील पर अपने प्राण निछावर करने लगती है। इस काण्ड में राम, सीता और लक्ष्मण के शारीरिक शोभा सम्भार के साथ उनके आन्तरिक गुणों और स्वभावगत विशेषताओ का बड़ा प्रभावी वर्णन हुआ है। अरण्य काण्ड केवल 9 सवैये में समाप्त हो गया है। जिसमें धनुषधारी राम को स्वर्ण मृग का पीछा करते दिखाया गया है। किष्किंधा काण्ड में भी केवल एक कवित्त है जिसमें पर्वत से उछलकर हनुमान जी के लंकागमन का वर्णन है। सुन्दर काण्ड में अशोक वाटिका में सीता की व्यथापूर्ण स्थिति, लंका दहन, हनुमान का वापस आना, सभी वानर-भालुओ में आह्लाद की स्थिति और राम के शिविर में विभीषण के शरणागत होने की कथा का वर्णन है।

लंका काण्ड में हनुमान द्वारा लंका दहन के बाद राक्षसों में फैले आतंक, हठी स्वभाव के लिए राक्षसों द्वारा रावण की निन्दा, त्रिजटा-सीता-सम्वाद, वानर सेना की गर्जना, रावण के दरबार में अंगद का आगमन, रावण-अंगद सम्वाद, अंगद के पाँव की अडिगता, मंदोदरी को राम में ईश्वरत्व का आभास, सीता को लौटाने का प्रस्ताव, रावण का क्रुद्ध होना, भीषण युद्ध, हुनमान की अद्भुत वीरता और युद्ध कौशल, युद्ध की भयानक विभीषिका, लक्ष्मण की मूर्छा, राम का विलाप, हनुमान द्वारा द्रोणाचल पर्वत ले आना, कालनेमि वध रावण और कुम्भकरण का वध, देवताओं द्वारा पुष्प वृष्टि, देवताओं की असीम प्रसन्नता, लोकपालों की विदाई आदि प्रसंगों का समावेश है। इसकी भाषा अत्यन्त ओजपूर्ण है।

उत्तर काण्ड अपेक्षाकृत विस्तृत है। इसमें मानस की परम्परा से सर्वथा भिन्न अनेक प्रकार के विषयों का समावेश किया गया है। भक्ति इस काण्ड के सभी प्रसंगों का संग्रथक सूत्र है। राम के त्यागशील और भक्तवत्सल रूप को बार-बार रेखांकित किया गया है जिसकी शरण जाकर सांसारिक जीव सभी ऽ ..र की चिन्ताओं और आशंकाओं से मुक्त हो सकता है। इसके अन्तर्गत तत्कालीन आर्थिक अभाव और उससे उपजी दारुण पीड़ा को भी बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। सीतावट, चित्रकूट और तीर्थराज प्रयाग का भी वर्णन बड़े मनोयोग से किया गया है। काशी की भयानक महामारी का भी वर्णन किया गया है तथा उससे त्राण पाने के लिए गोस्वामी जी ने देवताओं से प्रार्थनाएँ की है। यात्रियों को ठगनेवाले असामाजिक तत्त्वों को कठोर शब्दों में चेतावनी भी दी गयी है।

कवितावली के अन्त में *हनुमानबाहुक* का परिशिष्ट जोड़ा गया है। आरम्भ में हनुमान जी की महान शक्ति, तेजस्विता, सर्वगुण सम्पन्नता, कीर्ति एवं यशोगाथा का बखान किया गया है। इसके अनन्तर गोस्वामी जी ने अपनी असह्य बाहुपीड़ा को शान्त करने के लिए हनुमान जी से प्रार्थना की है। बाहु पीड़ा की भयंकरता का वर्णन अनुक रूपों में किया गया है जिससे संकेत मिलता है कि यह बाहु पीड़ा अधिक समय तक चलती रही। 'बाहुक' के छन्दों में गोस्वामी जी ने पीड़ा की भयंकरता के साथ यह विश्वास भी व्यक्त किया है कि इसका निवारण हनुमान जी ही कर सकते हैं इसलिए वे अपनी प्रार्थना को बार-बार दुहराते हैं। पीड़ा कम हुई और अन्ततः राम की अनुकम्पा से बाहु पीड़ा का पूर्ण शमन हुआ। 'बाहुक' के अन्तिम छन्दों में बरतोर की पीड़ा का उल्लेख है और उससे मुक्त होने के लिए हनुमान जी की प्रार्थना की गयी है। अन्ततः राम की अनुकम्पा से बाहु पीड़ा का पूर्ण शमन हुआ। इस पीड़ा को कर्म-फल मानकर मानसिक समाधान प्रस्तुत किया गया है।

रामचरितमानस के कथानक और कवितावली के कथानक में बहुत अन्तर है। कथा-क्रम और कथा-विकास की दृष्टि से भी 'कवितावली' का प्रवन्धत्व विशृंखल है। अधिकांश प्रसंगों को छोड़ दिया गया है। इसके विपरीत कुछ नूतन प्रसंगों की उद्भावना की गयी है। कुछ प्रसंग जो 'मानस' में सक्षिप्त हैं उन्हें विस्तार से वर्णित किया गया है। *कवितावली* का उत्तरकाण्ड मानस के उत्तरकाण्ड से सर्वथा भिन्न है। कथा में अन्तर, काण्डों में अनुपातहीनता और प्रसगों की विशृंखलता से स्पष्ट संकेत मिलता है कि कवितावली की रचना प्रबन्ध की दृष्टि से नहीं की गयी। रामकथा के कुछ प्रिय प्रसंगों को गोस्वामी जी ने भावोद्रेक के विशिष्ट क्षणों में छन्दबद्ध किया। इस कृति में शैलीगत वैविध्य भी इसी तथ्य की ओर

संकेत करता है। वस्तुतः ये प्रकीर्ण रचनाएँ हैं जिन्हें तुलसीदास जी ने अपनी विशिष्ट भावदशाओं में कवित्त, सवैया, छप्पय और झूलना छन्दों में निबद्ध किया। यह भी लक्षणीय है कि जिन प्रसंगों को तुलसीदास ने *कवितावली* में हनुमान जी द्वारा लंका दहन का प्रसंग जिस पूर्णता और प्रभावान्विति के साथ कवितावली में चित्रित हुआ है उतना अन्यत्र कहीं नहीं।

यद्यपि *कवितावली* में मानस के कतिपय चुने हुए प्रसंगों को ही प्रतिपाद्य बनाया गया है तथापि इसमें रस परिपाक, अलंकार योजना, भाव समृद्धि आदि का अनूठा उदाहरण मिलता है। कोमल और परुष दोनों भावों का इस कृति में सफल अभिव्यंजन हुआ है। बालकाण्ड मे भक्तिभाव से परिपूरित वात्सल्य और शृंगार रस की अद्भुत योजना है। अयोध्याकाण्ड में करुण रस का पूर्ण परिपाक है। सुन्दर काण्ड में भयानक और रौद्र रस का विलक्षण विधान मिलता है तो लंकाकाण्ड में वीर, रौद्र, वीभत्स और अद्भुत रसों का पूर्ण परिपाक मिलता है। उत्तर काण्ड के स्तुतिपरक छन्दों में शांत रस का अपूर्व उदाहरण मिलता है। अयोध्याकाण्ड के अन्त में शालीन हास्य का भी मनोहारी सन्निवेश किया गया है। अपनी रससिद्धि के कारण हास्य रस का निम्नलिखित छन्द अत्यन्त लोकप्रिय है—

बिन्ध के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी तरुनी सो कथा सुनि भै मुनिबृंद सुखारे।
होइहें सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू जो कृपा करि कानन को पगुधारे॥

ध्यातव्य है कि उक्त छन्द में प्रकारान्तर से राम की पद-रज के महात्म्य को रेखांकित किया गया है। किन्तु अभिव्यक्ति की रंजकता आह्लदकारी हास्य की अनूठी सृष्टि करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवितावली में सभी रसों का सुन्दर परिपाक मिलता है। भाषा-प्रयोग और अलंकार-योजना की दृष्टि से भी इस कृति को अपूर्व सिद्धि मिली है। भावानुरूप भाषा और शैली, अलंकारों की स्वाभाविकता, अभिनव प्रयोग, भावो की भव्यता, एकनिष्ठ भक्तिनिष्ठा, अविच्छिन्न रस-प्रवाह, अनुभूति की गहनता आदि के कारण *कवितावली* को असीम लोकप्रियता मिली है। कवितावली में ऐसे भी छन्द हैं जो गोस्वामी जी के व्यक्तित्व जीवन तथा तत्कालीन समाज और देश की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि स्थितियों पर प्रकाश डालते हैं।

कवितावली का रचनाकाल विस्तृत कालखण्ड में फैला हुआ है। इसमें समाविष्ट प्रसंग अलग-अलग कालखण्डों के है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त के अनुसार

कवितावली का रचनाकाल सम्वत् 1661 से सम्वत् 1680 तक मनाना चाहिये।

गीतावली

गीतावली ब्रजभाषा में रचित मुक्तक प्रगीत काव्य है। इसमें विभिन्न राग-रागिनियों पर आधारित 330 पद हैं। मानस की भाँति ही कथानक के अनुसार इसे भी सात काण्डों में विभाजित किया गया है। काण्डों में पदों की संख्या की असमानता है। बालकाण्ड में 110, अयोध्याकाण्ड में 89, अरण्यकाण्ड में 17 किष्किंधाकाण्ड में 2, सुन्दरकाण्ड में 51 लंकाकाण्ड मे 23 और उत्तराकाण्ड में 38 पदों का समावेश है।

गीतावली में प्रबन्ध तत्व की अपेक्षा भावगाम्भीर्य का प्राधान्य है। इसमें कोमल भाववाले प्रसंगों को ही अभिव्यंजित किया गया है, परुष भावों को छोड़ दिया गया है। प्रबन्ध प्रवाह की अपेक्षा गहन भाव-बोध की मार्मिक अभिव्यक्ति गीत विधा के लिए अधिक अनुकूल होती है सम्भवतः इसीलिए गोस्वामी जी ने इस कृति में मर्मस्पर्शी प्रसंगों पर अधिक बल दिया है। गीतावली के कथानक में अनेक स्थलों पर रामचरितमानस की कथा योजना से भिन्न है। बालकाण्ड के अन्तर्गत महाराज दशरथ के राजभवन में पुत्र जन्मोत्सव, विविध संस्कार, बाल-लीला, विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण का जाना, अहल्या-उद्धार, विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण का जनकपुर जाना, जनकपुरवासियों पर राम-लक्ष्मण के अलौकिक सौन्दर्य का प्रभाव, पुष्पवाटिका प्रसग, धनुर्भग, सीता द्वारा राम को जयमाला पहनाना, जनक के राजपुरोहित शतानन्द द्वारा अयोध्या जाकर समाचार पहुँचाना, अयोध्या से बारात का प्रस्थान, विवाह के अवसर पर राम-सीता और लक्ष्मण-उर्मिला की शोभा बारात अयोध्या लौटने पर वर-वधू का आरती उतारना आदि प्रसंगो का रोचक चित्रण है।

अयोध्या काण्ड के अन्तर्गत, राम के राज्याभिषेक की तैयारी, कैकेयी की ईर्ष्या, राम वन-गमन, राम के साथ जाने के लिए सीता का आग्रह, वन गमन के समय पुर वासियों की व्यथा, पुत्र वियोग में दशरथ की मर्मान्तक वेदना, वन मार्ग में कोमलांगी सीता की श्रांति। मार्ग में मिलने वाले स्त्री पुरुषों की राम-लक्ष्मण-सीता के प्रति गहरी संवेदना और आत्मीय अनुभूति, माता कौशल्या की विरह वेदना, महाराज दशरथ के प्रति गहरी संवेदना और आत्मीय अनुभूति, महाराज दशरथ की मृत्यु, भरत का विषाद, भरत का चित्रकूट गमन, निषाद और भरत का मिलन, चित्रकूट में भरत की भाव-विह्वलता, राम द्वारा भरत को प्रबोधन, राम की आज्ञा से भरत का अयोध्या लौटना, नन्दिग्राम में भरत की तपस्या, कौशल्या

का विरह, राम के घोड़ों की दशा, निषाद के पत्र से राम के पंचवटी में रहने के समाचार आदि प्रसंगों का समावेश है।

इस कृति के अरण्य काण्ड में छद्मवेशी मारीच का वध, सीताहरण, जटायु वध राम का वियोग, जटायु-उद्धार, शबरी के आश्रम में राम का गमन, शबरी को परम पद की प्राप्ति जैसे प्रसंगों का समावेश है। किष्किंधा काण्ड में केवल दो पद है। एक में ऋष्यमूक पर्वत पर सीता के आभूषणों को देखकर राम की व्यथा का वर्णन है दूसरे में सीता की खोज के लिए राम द्वारा सुग्रीव को आदेश देने का वर्णन है।

सुन्दर काण्ड मे राम की मुद्रिका के साथ हनुमान जी के लंका गमन, अशोक वाटिका में सीता से हनुमान की भेंट, सीता को मुद्रिका देना, हनुमान द्वारा सीता के सम्मुख अपना परिचय प्रस्तुत करना, सीता का पश्चात्ताप, राम के आगमन के सम्बन्ध में पूछना, हनुमान रावण-सम्वाद वानरी सेना की तैयारी, सेतु निर्माण, रावण द्वारा विभीषण पर पद-प्रहार, विभीषण का अपनी माता और भाई कुबेर से परामर्श लेना, विभीषण का राम की शरण में आना, विभीषण द्वारा भक्ति का गुण-गान, सीता-त्रिजटा सम्वाद, त्रिजटा द्वारा राम के प्रताप का वर्णन जैसे मार्मिक प्रसंगों का समावेश है।

लंका काण्ड में मन्दोदरी द्वारा राम की महिमा का बखान और सीता को लौटाने का प्रस्ताव, अंगद-रावण-सम्वाद, रावण की गर्वोक्ति, लक्ष्मण को शक्ति लगना, राम का विलाप, हनुमान द्वारा सुषेण वैद्य और संजीवनी बूटी का ले आना, भरत—हनुमान सम्वाद, लक्ष्मण मूर्छा के समाचार से सुमित्रा का राम के लिए चिन्तित होना, लक्ष्मण की मूर्छा का टूटना, रावण-वध, वनवास की अवधि की समाप्ति पर कौशल्या की चिन्ता और राम से मिलने की उत्कण्ठा, राम का अयोध्या आगमन राम का राज्याभिषेक और सीता के साथ राम का सिंहासनारूढ होना जैसे प्रसगों का हृदयग्राही वर्णन किया गया है।

उत्तर काण्ड का आरम्भ धर्मानुशासित और वर्णाश्रम व्यवस्था में निबद्ध राम राज्य की कल्पनातीत सभ्यता के वर्णन से किया गया है। इसके अनन्तर हिंडोलोत्सव, वर्षावर्णन, दीपोत्सव, राम का वसन्त विहार होलिकोत्सव, राम का प्रजापालन, प्रजा का राम के प्रति प्रेम, राम की दिनचर्या, रामराज्य की विभुता, रामद्वारा पिता की अवशिष्ट आयु भोगने के लिए अनन्य पतिव्रता सीता का परित्याग, वाल्मीकि आश्रम में लव-कुश का जन्म, वाल्मीकि द्वारा उनके विविध संस्कार, लव-कुश की बाल क्रीड़ायें, राम द्वारा कैकेयी का सम्मान, अयोध्यावासियों द्वारा राम के महान गुणों की प्रशंसा आदि की दिव्य झॉकी का अनूठा अभिव्यजन किया गया है। अन्त

में गोस्वामी जी ने भगवान राम से अटूट भक्ति के वरदान की याचना की है।

गीतावली में कथा-बन्ध के अनुसरण और काण्डों में पदों की संख्या में सन्तुलन के अभाव से गीतावली का प्रबन्ध तत्त्व बाधित है। अन्य प्रबन्धात्मक रचनाओं की भाँति गोस्वामी जी ने इसमे मंगलाचरण और फलश्रुति का नियोजन नहीं किया है। इससे स्पष्ट होता है कि इन पदों के द्वारा प्रबन्ध काव्य प्रस्तुत करना उनका उद्देश्य नहीं था। वस्तुतः रामकथा पर आश्रित होने के बावजूद गीतावली स्फुट गीतों का संग्रह है। इन गीतों को सागीतिक दक्षता के साथ विभिन्न राग-रागिनियों में प्रस्तुत किया गया है। कोमल और करुण भावों की प्रधानता के कारण इन गीतों में भावानुकूल राग केदारा और राग सोरठ का सर्वाधिक उपयोग किया गया है। सम्पूर्ण कृति मे राम की विमोहक रूप माधुरी और नारी सुलभ कोमल भावनाओ को पूर्ण कलात्मक संयम के साथ अभिव्यंजित किया गया है। प्रसाद और माधुर्य से युक्त सुकुमार शैली में रचित कोमलकान्त पदावली गोस्वामी जी की कलात्मक सिद्धि और संगीत के सूक्ष्म ज्ञान को प्रमाणित करती है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक जैसे अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग, शब्द शक्तियों के सार्थक उपयोजन और भावों की उदात्तता के कारण *गीतावली* का कलात्मक सौष्ठव अत्यन्त प्रभावकारी है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त के अनुसार *गीतावली* का रचनाकाल सम्वत् 1653 है।

कृष्ण गीतावली

इस कृति में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया गया है। यह कृति संगीत की विभिन्न राग-रागिनियों के आधार पर लिखा गया मुक्तक गीतों का संग्रह है। इसका प्रतिपाद्य कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन और सगुणोपासना की स्थापना है साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी राम और कृष्ण की उपासना में तात्विकः अभेद मानते थे। इस कृति में कुल 61 पद है। सभी पद अपने आप में पूर्ण एवं स्वतन्त्र हैं। इस कृति में गोस्वामी जी के सूक्ष्म संगीत-ज्ञान को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। मलार, गौरी, केदारा, आसावरी, बिलावल, धनाश्री, सोरठ, कान्हरा, नट, ललित जैसे रागों का उत्कृष्टतम स्वरूप इस कृति में प्रस्तुत हुआ है। रामकथा पर आधारित प्रभूत रचनाओं के बीच कृष्णोपासना को प्रतिपादित करने वाली यह कृति विशिष्ट, प्रौढ़ और कलात्मक दृष्टि से समृद्ध रचना है।

कृष्ण गीतावली की रचना कृष्णभक्ति परम्परा के अनुसार की गयी है किन्तु सूरदास ने जिन प्रसंगों को बहुत विस्तार से चित्रित किया है उन्हें गोस्वामी जी ने अत्यन्त सघन और संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें प्रचलित प्रसगों को

ही गोस्वामी जी ने अपने ढंग से चित्रित किया है। कृष्ण की माखन-चोरी, गोपिकाओं के उलाहने, माता यशोदा का क्रोध, कृष्ण द्वारा अपनी निर्दोषता की सफ़ाई प्रस्तुत करना जैसे प्रसंगों को संक्षिप्त रूप में किन्तु, विलक्षण पूर्णता के साथ प्रस्तुत किया गया है। गोचारण, बॉसुरी वादन, गोवर्धन धारण जैसे प्रसंगों को भी संक्षिप्त किन्तु चित्ताकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अनेक स्थलों पर बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का प्रयोग अनूठा प्रभाव उत्पन्न करता है। गोपी के उलाहने पर बालक कृष्ण अपनी सफ़ाई देते हुए कहते हैं–

अबहिं उरहनो दै गई, बहुरो फिरि आई।
सुनु मैया तेरीसौं करौं, याकी टेक लरन की, सकुच बेचि सी खाई।
या ब्रज में लरिका धने हौं ही अन्यायी
मुँह लाए मूड़हिं चढ़ी अंतहु अहिरिनि तू सूधी करि पाई।।

इन पंक्तियों में भाषा की सहजता, मुहावरों के प्रयोग, बाल सुलभ चेष्टा की स्वाभाविकता के साथ ही बालक कृष्ण के प्रातिभ सामर्थ्य का भी संकेत मिलता है।

भ्रमरगीत प्रसग का उद्धव-गोपी-सम्वाद कृष्ण-भक्तों को बहुत प्रिय रहा है। सगुणोपासना की प्रतिष्ठा के लिए भी उद्धव-गोपी सम्वाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोस्वामी जी सगुणोपासना के समर्थक थें उन्होंने भी *कृष्ण गीतावली* में इस प्रसंग को उठाया है। वस्तुतः भ्रमर-गीत प्रसंग इस कृति का प्रमुख प्रतिपाद्य है। क्योकि सर्वाधिक पद इसी प्रसंग में लिखे गये हैं। आकर्षक शैली और कलागत सिद्धि के कारण *कृष्ण गीतावली* के पद सूरदास के पदों से भी श्रेष्ठतर सिद्ध होते हैं। गोपियों की विराहनुभूति, प्रेम की प्रगाढ़ता और भक्ति की अनन्यता की प्रभावपूर्ण अभिव्यंजना इन गीतो में हुई है। निम्नलिखित पंक्तियों में गोपियों की निष्ठा दर्शनीय है–

सगुन छीर निधि तीर बसत ब्रज तिहूँपुर विदित बड़ाई।
आक दुहन तुम कहयो सो परिहरि हम यह मति नहिं पाई॥
जानत हैं जदुनाथ सबन की बुद्धि विवेक जड़ताई।
तुलसिदास जनि बकहिं परम सठ ! हट निसिदिन अँबराई॥

इन पंक्तियों में गोपियों द्वारा प्रयुक्त भाषा का सहज रूप, मुहावरों का प्रयोग सगुणोपासना में निष्ठा, निर्गुणोपासना का निरादर और निर्गुणवादी उद्धव के उपदेश की आक्रोशपूर्ण उपेक्षा प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यंजित की गयी है। इसी प्रकार भाव प्रवण और कोमल अनुभूतियों से युक्त कलागत सिद्धि सम्पूर्ण कृति में देखी जा सकती है। अनुप्रासों के प्रयोगो द्वारा नादात्मक श्रुति माधुर्य पैदा किया गया

है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक जैसे अलंकारों के प्रयोग से भावोत्कर्ष की वृद्धि की गयी है। वात्सल्य और शृंगार के संयोग-वियोग पक्षों की अनूठी व्यंजना की गयी है।

प्रेम लक्षणा भक्ति में उपास्य की सौन्दर्य माधुरी के प्रति आसक्ति परम्परानुमोदित है। उपास्य का मनोहर रूप भक्त की आस्था का केन्द्र होता है। नारद के *भक्ति सूत्र* से लेकर *भागवत* की नवधा भक्ति तक इसी का समर्थन मिलता है। रूप पिपासा ही वियोग के क्षणों में असह्य उद्धेलन का कारण बनती है किन्तु इस रूप तृष्णा में निहित दर्शन की सम्भावना भक्त के जीवन का आधार भी बनती है। यहीं अटूट आस्था अनन्य भक्ति का आधार है। मधुरा भक्ति में यह स्थिति और भी दृढ़ होती है। तुलसीदास ने कृष्ण की रूप माधुरी की चित्ताकर्षक झाँकी प्रस्तुत की है। संस्कृतनिष्ठ कोमलकान्त पदावली में कृष्ण की रूप छटा की विलक्षण व्यंजना की गयी है—

घनस्याम काम अनेक छवि, लोकाभिरात मनोहरम्।
किंजल्क बसन, किसोर मूरति, भूरि गुण करुनाकरम्॥
सिर केकि पच्छ बिलोल कुंडल अरुन बनरुह लोचनम्।
गुंजावतंस विचित्र, सब अंग धातु, भवभय मोचनम्॥

कृष्ण गीतावली की समाप्ति पर कृष्ण के लोकहितकारी और भक्तवत्सल कृष्ण की संकट मोचन प्रवृत्ति की कीर्ति का बखान किया गया है। द्रौपदी के चीरहरण के समय कृष्ण स्वयं वस्त्र बन गये थे और द्रौपदी की लज्जा की रक्षा की थी। इसी प्रसिद्ध प्रसग के माध्यम से कृष्ण के अशरण शरण रूप की प्रतिष्ठा करके कृति की समाप्ति की गयी है। कोई अन्तस्साक्ष्य न होने पर भी अधिकांश विद्वान *कृष्ण गीतावली* का रचनाकाल सम्वत् 1658 के आस-पास मानते हैं।

विनयपत्रिका

विनयपत्रिका तुलसीदास जी की कृतियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसमें वैदिक काल से चली आ रही मुक्तक परम्परा के आध्यात्मिक मुक्तकों का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत हुआ है। आरम्भ की प्रार्थनाओं और अन्त में रघुनाथ की सही प्राप्त होने से गोस्वामी जी की बन जाने के सुखद परिणाम में इसमें एक संगति का निर्माण हो गया है जिसके आधार पर कुछ विद्वानों ने इसे प्रबन्ध काव्य भी कहा है किन्तु *विनयपत्रिका* में अपनायी गयी पत्र-प्रबन्ध प्रणाली के बावजूद इसे मुक्तक-गीत-काव्य ही कहना उचित होगा। इसके आरम्भ में गणेश, सूर्य, शंकर, दुर्गा, गंगा, यमुना और हनुमान जी की स्तुति की गयी है। इसके पश्चात् आनन्दवन

और चित्रवन के महात्म्य का वर्णन किया गया है। तदनन्तर राम के समीप सदैव बने रहनेवाले लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न को प्रसन्न करने के प्रसंग हैं अन्त में जगत-जननी, सर्वश्रेयस्करी सीता को प्रसन्न करने का उपक्रम किया गया है। इस प्रार्थना प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप कलियुग से आक्रान्त भक्त की पत्रिका भगवान राम तक पहुँच जाती है और वे द्रवीभूत होकर उसे अनन्य भक्ति का वरदान प्रदान करते हैं। गोस्वामी जी द्वारा अपनायी गयी पत्रिका-प्रेषण की इस प्रणाली में मुगलकालीन दरबारी सभ्यता का प्रभाव भी लक्षणीय है, इसमे सात ड्योढ़ियो को पार करने, अंगरक्षकों को प्रसन्न करने और महारानी की अनुकंपा प्राप्त करने का अपना महत्त्व था। किन्तु ध्यातव्य है कि रघुनाथ की सही कोई यथार्थ घटना न होकर भक्त हृदय की आत्मानुभूति है, आत्यंतिक प्रपत्ति से प्राप्त आन्तरिक आह्लाद है। अतः उसे प्रबन्धात्मक प्रवाह की कलात्मक परिणति नहीं मानना चाहिये।

गोस्वामी जी की अनन्य प्रेमा भक्ति का श्रेष्ठतम उदाहरण विनयपत्रिका में ही प्राप्त होता है। राम को सगुण-निर्गुण दोनों मानकर वे उन्ही को समस्त सृष्टिका नियन्ता स्वीकार करते हैं। विश्वरूप राम समय-समय पर दीन-दुखियो के उद्धार के लिए अवतार लेते हैं। इसलिए वे ईश्वर प्राप्ति के अन्य सभी उपायों को छोड़कर राम की अनन्य भक्ति में परम सन्तोष का अनुभव करते है। उनके मत में भक्ति मार्ग ही निरापद राजमार्ग है।

बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरों सो।
गुरु कहयौ राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो॥

गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका में इस राजमार्ग पर चलने की कठिनाइयों और शर्तो का भी उल्लेख किया है। काम, क्रोध, मोह, मद, लोभ, अहकार का पूर्णतया विसर्जन होने पर ही उपास्य के चरणो मे निःशेष प्रपत्ति सम्भव होती है। उपास्य के साथ एकनिष्ठ भाव से शरणागत होना भक्ति मार्ग की आवश्यक शर्त है। गोस्वामी जी विश्वासपूर्वक कहते हैं—

करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहिं जब लगिकरहु न दाया।

अथवा

तुलसिदास भवरोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई।

विनयपत्रिका के अनेक पदों में ईश्वर के इसी अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए अनेक रूपों में प्रार्थना की गयी है। इस अनुकम्पा की आकाक्षा और उसके न प्राप्त कर पाने की व्यथा को गोस्वामी जी भाव विह्वल होकर अभिव्यंजित करते हैं किन्तु प्रत्येक दशा में अपने समर्पण भाव को अटूट बनाए रखते हैं और स्पष्ट

शब्दों में घोषित करते हैं—

जाउँ कहाँ तजि चरण तिहारे।

भक्ति की विभिन्न भूमिकाओं में भक्त की मनोदशाओं का क्रमिक विकास होता है। इन भूमिकाओं में दैन्य, मानमर्षण, भय दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारण प्रमुख हैं। *विनयपत्रिका* में इन सभी दशाओं का चरम उत्कर्ष देखने को मिलता है। इस कृति में उपासक, उपास्य और उपासना के लक्षणों, स्वरूपों और उनके महात्म्य का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। गोस्वामीजी किसी प्रकार के भौतिक लाभ-लोभ की ओर ध्यान न देकर अपनी आशाओं और आकांक्षाओं को राम के चरणों में निःशेष भक्तिभाव से केन्द्रित करते हैं। उनकी घोषणा है—

मति राम नाम ही सों रति रामनाम ही सों,
गति रामनाम ही की बिपति-हरनि।
रामनाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक
तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि।

विनयपत्रिका का केन्द्रीय भाव प्रेम की अनन्यता है। प्रेम अनन्यता की आधारभूत प्रतीतिपूर्ण आस्था है। गोस्वामी जी की प्रेम-विकल आर्तता और आतुरता का अनूठा अभिव्यंजन *विनय पत्रिका* में हुआ है। रामचन्द्र के चन्द्रमुख को देखने के लिए चकोर बनने की उत्कट अभिलाषा अथवा राम से अपनत्व के दो शब्द सुनने की तीव्र इच्छा इन्हें विह्वल कर देती है। वे व्याकुलता से कह उठते हैं—

बारक कहिए कृपालु ! तुलसीदास मेरो ॥

अथवा

तेहि कौतुक कहिए कृपालु। तुलसी है मेरो ॥

इस प्रकार भाव विकलता की असंख्य स्थितियाँ *विनयपत्रिका* में वर्णित हैं। राम-प्रेम की प्रगाढ़ता के कारण राम की भक्ति के मार्ग में आनेवाले अवरोधों की भी विस्तृत चर्चा इस ग्रंथ में की गयी है। किन्तु अवरोधों के कारण भक्त की निष्ठा स्खलित न होकर उत्तरोत्तर दृढ़ होती जाती है। उसका संकल्प दृढ़तर होता जाता है। वस्तुतः राम-प्रेम वह स्थायी भाव है जो *विनयपत्रिका* में आद्योपान्त प्रवाहित और मुखरित है। कलियुग से आतंकित और त्रस्त गोस्वामी जी का दृढ़ विश्वास है कि इस संसार कान्तार की करालता से मुक्त होने के लिए, माया से मुक्त होने के लिए, अनेक योनियों में भटकने से बचने के लिए ईश्वर की कृपा ही एकमात्र उपाय है। उसीसे अपेक्षित आलोक की प्राप्ति होती है। ज्ञान-चर्चा से द्वैत के अन्धकार से मुक्ति नहीं मिलती। 'निसि गृह बैठि दीप की बातनि तम निवृत्त नहिं होई।'

काव्य-कला की दृष्टि से भी *विनयपत्रिका* एक प्रौढ़ साहित्यिक कृति है।

इसमें प्रयुक्त संस्कृतनिष्ठ पदावली ब्रजभाषा को एक नया स्वरूप प्रदान करती है। कतिपय स्थलों पर संस्कृत की सामासिक शैली का उपयोग करके नाद सौन्दर्य और श्रुति माधुर्य का चरम उत्कर्ष किया गया है। तत्सम और तद्भव शब्दों के मणिकांचन योग से प्रवाह और प्रभाव में चमत्कारिक वृद्धि हुई है। अरबी और फारसी के शब्दों के साथ प्रदेशीय बोलियों के शब्दों का भी बड़ा सार्थक प्रयोग किया गया है। अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक जैसे अलंकारों के प्रयोग से शिल्प सौष्ठव और अर्थसमृद्धि में वृद्धि हुई हैं। इसमें 28 से अधिक राग-रागिनियों को आधार काव्याभिव्यक्ति को बनाकर अद्भुत सांगीतिक सम्पदा से मंडित किया गया है। लोकोक्तियों, मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से भी भाव सम्प्रेषण में लक्षणीय सफलता मिली है। मुक्तक प्रगीतों में अन्तःसलिला की भाँति भक्ति की अविच्छिन्न भावधारा भी प्रवहमान है। *विनयपत्रिका* भक्ति रस का अथाह सागर है।

विनयपत्रिका में यद्यपि गोस्वामी जी की आत्माभिव्यक्ति ही प्रधान है तथापि उसका सार्वभौम स्वरूप निर्विवाद है। इस कृति में आत्मालोचन, आत्मद्रवण, दैन्य, प्रपत्ति, आकांक्षा आदि की अभिव्यंजना वैयक्तिक स्तर पर हुई हैं किन्तु भक्तिमार्ग की जिन सरणियों का अनुसरण किया गया है, भक्ति की जिस अनन्य निष्ठा को रेखांकित किया गया है, भक्तिमार्ग की जिन विशेषताओं को आलोकित किया गया है, ईश्वर प्राप्ति के लिए भक्त की जिस आचरण-सहिता का निर्देश किया गया है वे गोस्वामी जी के लिए ही नहीं सभी के लिए समान रूप से उपादेय है। कलियुग की करालता का सम्बन्ध केवल गोस्वामी जी से ही नहीं था। उसका प्रभाव समस्त समाज पर पड़ रहा था। इस प्रकार गोस्वामी जी की पीड़ा पूरे समाज की पीड़ा थी और विनय में सम्पूर्ण समाज के आर्त स्वर की अनुगूँज सम्मिलित थी। उनका व्यक्तिवेद्य सर्वजनसंवेद्य होकर ही भगवान श्रीराम के चरणों में अर्पित हुआ था।

विनयपत्रिका वस्तुतः युग व्यापी विसंगतियों, पथों, धर्मो, सम्प्रदायों, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, अनास्थाओं के बीच विपथ और उद्भ्रान्त समाज के लिए सार्थक जीवन शैली के संधान का सफल प्रयास है। *विनयपत्रिका* के माध्यम से गोस्वामी जी ने भक्ति का जो राजमार्ग प्रस्तुत किया उस पर चलकर कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को चरम सार्थकता प्रदान कर सकता है। कोई भी यदि अपने षडरिपुओं से मुक्त होकर, लौकिक एषणाओं से विरत होकर, एक निष्ठ भाव से श्रीराम के चरणों में निःशेष समर्पण करता है तो वे फल प्रदान करेंगे। इसी अर्थ में *विनयपत्रिका* वैयक्तिक होकर भी सार्वभौमिक है। इस का रचनाकाल 1661 से 1680 के बीच ठहराया जाता है।

रामचरितमानस

रामचरितमानस गोस्वामी जी की सर्वाधिक लोकप्रिय और सर्वांगपूर्ण कृति है। इसे उनकी कृतियों की मणिमाला का सुमेरू कहा जाता है। भारतीय भाषाओं में ही नहीं विश्व की प्रायः सभी विकसित भाषाओं में इस कृति का अनुवाद हुआ है जो इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और मूल्यवत्ता का प्रमाण है। इस कृति में रामकथा को सात काण्डों में विभाजित करके प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि काव्यशास्त्रीय नियमों के अनुसार महाकाव्य में आठ सर्गो का होना आवश्यक माना गया है तथापि गोस्वामीजी की यह कृति अपनी समग्रता और पूर्णता के साक्ष्य पर सात काण्डों में ही निर्विवाद रूप से श्रेष्ठ महाकाव्य के रूप में सर्वस्वीकृत है। सर्गो के आरम्भ में और बीच-बीच के कुछ अवसरों पर कुछ अन्य छन्दों का भी उपयोग किया गया है किन्तु मुख्यरूप से यह ग्रन्थ चौपाई और दोहा छन्दों में और अवधी भाषा में लिखा गया है। चार चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे का क्रम रखा गया है जिसका निर्वाह प्रायः आद्योपांत किया गया है। इसमें चौपाइयों की संख्या 51000 और दोहों की संख्या 1074 मानी जाती है।

रामचरितमानस में निरूपित रामकथा का स्रोत कोई एक ग्रन्थ नहीं है। यह 'नानापुराण निगमागम सम्मत' रामकथा है। 'मानस' की कथापर *वाल्मीकि रामायण, आध्यात्म रामायण, श्रीमद्भागवत, प्रसन्नराघव नाटक, हनुमन्नाटक* और *भगवद्गीता* का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। इन स्रोतों के अतिरिक्त गोस्वामी जी की कुछ मौलिक उद्भावनाये भी हैं। विभिन्न स्रोतों से युग सापेक्ष मूल्यवान सन्दर्भो और मौलिक उद्भावनाओ के समन्वित रूप से 'मानस' की रामकथा का ताना-बाना तैयार किया गया है। घटनाओं का नियोजन, चरित्रों का विकास, व्यापक जीवनानुभूति, मानवीय ससक्ति और प्रभावी अभिव्यक्ति कौशल के कारण यह कृति भारतीय साहित्य का गौरव बन गयी है।

रामचरितमानस में सात काण्ड हैं। प्रत्येक काण्ड का आरम्भ मंगलाचरण से किया गया है। बालकाण्ड के आरम्भ में सरस्वती, गणेश, भवानी, शंकर, वाल्मीकि, हनुमान, रामवल्लभा सीता, ब्रह्मादि देवता, असुर और अन्त में भगवान राम की स्तुति की गयी है। इसके अनन्तर भाषा में स्वान्तः सुखाय, रघुनाथगाथा लिखने की घोषणा की गयी है। तत्पश्चात् गुरुवंदना, ब्राह्मण-सन्त-वन्दना, खल-वन्दना, रामसीयमय जगत की वन्दना रामभक्ति से प्रेरित कविता की महिमा, रामनाम की महिमा, मानस-माहात्म्य, याज्ञवल्क्य-भारद्वाज सम्वाद, सती का भ्रम, शिव द्वारा सती का त्याग, सतीदाह, पार्वती-जन्म, शिव को पति रूप में पाने के

लिए पार्वती का घोर तप, काम-दहन, शिव-पार्वती विवाह, नारद मोह, मनु शतरूपा की कथा, भानुप्रताप की कथा, राम जन्म, विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा, अहल्या उद्धार, सीता-स्वयंवर, धनुर्भग, परसुराम-सम्वाद, सीता-राम-विवाह जैसे प्रसंगों का आख्यान किया गया है। अंत में रामचरित्र की महिमा का गुणानुवाद करने और सुनने के महात्म्य को रेखांकित किया गया है।

अयोध्याकाण्ड में मंगलाचरण के पश्चात् राम के राज्याभिषेक की तैयारी, सरस्वती की प्रेरणा से मन्थरा की ईर्ष्या, कैकयी-मन्थरा सम्वाद, कैकयी द्वारा वरदान माँगना, लक्ष्मण और सीता के साथ राम का वन-गमन, राम-केवट सम्वाद, प्रयाग में भारद्वाज-राम सम्वाद, राम-वाल्मीकि सम्वाद, महाराज, दशरथ की मृत्यु, भरत का चित्रकूट आगमन, चित्रकूट सभा, भरत का अयोध्या लौटना, सिंहासन पर राम की चरण पादुका की प्रतिष्ठा, भरत का नन्दिग्राम निवास जैसे प्रसंगों पर विस्तृत चर्चा की गयी है और अन्त में भरत के उज्ज्वल चरित्र के श्रवण की महिमा का गान किया गया है।

अरण्यकाण्ड मंगलाचरण के अनन्तर इन्द्रपुत्र जयन्त के अभिमान और उसके दण्ड, अत्रि मिलन, सीता-अनसूया सम्वाद, विराध बध, पृथ्वी को निशाचरहीन करने की राम की प्रतिज्ञा, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य और जटायु से मिलन, पंचवटी निवास, सूर्पणखा प्रकरण, मारीच वध, सीताहरण, कबन्ध उद्धार, शबरी उद्धार, राम-नारद सम्वाद आदि का समावेश है और अन्त में सन्तों के लक्षणों का विवेचन करते हुए सतसंग की महिमा का आख्यान किया गया है।

किष्किंधा काण्ड में मंगलाचरण के अनन्तर, राम-हनुमान-मिलन, राम-सुग्रीव मैत्री, बालि वध, सुग्रीव का राज्याभिषेक, सीता की खोज में बन्दरों का प्रस्थान, सम्पाती प्रसंग, समुद्र का प्रस्ताव, जामवन्त की प्रेरणा से हनुमान जी का उत्साहित होना आदि प्रसंग समाविष्ट किये गये हैं और अन्त में राम के गुणो का आख्यान किया गया है।

सुन्दरकाण्ड के मंगलाचरण में भगवान राम की महिमा का आख्यान करते हुए अकलंक और अखण्ड भक्ति प्रदान करने की याचना की गयी है। इसके अन्तर्गत हनुमानजी का लंका प्रस्थान, सुरसा से भेंट, छायाग्राही दानवी का वध, लकिनी पर प्रहार, हनुमान-विभीषण-सम्वाद, अशोक वाटिका में सीता के दर्शन, सीता-त्रिजटा-सम्वाद, हनुमान-सीता-सम्वाद, लंकादहन, हनुमान का चूड़ामणि के साथ लौटना, राम-हनुमान-सम्वाद, राम की बानरी सेना का समुद्र तट पर आगमन, मन्दोदरी-रावण-सम्वाद, विभीषण का रावण द्वारा अपमान, विभीषण का राम की शरण में आना, रावण-दूत शुक का प्रसंग, शुक द्वारा लक्ष्मण के पत्र का रावण

के पास पहुँचना, समुद्र पर राम का क्रोध, आदि प्रसंगों को समाविष्ट किया गया है और अन्त में राम के गुणगान का माहात्म्य विवेचित किया गया है।

लंकाकाण्ड में मंगलाचरण के पश्चात् सेतुबन्ध-रामेश्वर की स्थापना, राम की सेना का समुद्र पार करना, रावण की व्यग्रता, मन्दोदरी और प्रहस्त द्वारा रावण को समझाना, राम के वाण से रावण के मुकुट-छत्रादि का गिरना, मन्दोदरी द्वारा राम की महिमा का बखान, रावण-अंगद-सम्वाद, युद्ध का आरम्भ, लक्ष्मण को मेघनाद की शक्ति का लगना, हनुमान द्वारा वैद्य सुषेण और संजीवनी बूटी का ले आना, राम-भरत सम्वाद, कुंभकरण के साथ युद्ध, लक्ष्मण-रावण-युद्ध, राम-रावण-युद्ध, विभीषण-रावण-युद्ध, रावण-हनुमान-युद्ध, रावण-बध, मन्दोदरी-विलाप, विभीषण का राज्याभिषेक, सीता की अग्निपरीक्षा, इन्द्र द्वारा अमृत-वर्षा, पुष्पक विमान द्वारा राम-लक्ष्मण-सीता का अयोध्या लौटना आदि प्रसंगों का समावेश किया गया है और अन्त में रामचरित की महिमा का गान किया गया है।

उत्तरकाण्ड *रामचरितमानस* का अन्तिम काण्ड है। इसमें भरत की विरह-वेदना, भरत-हनुमान-सम्वाद, राम के आगमन की सूचना से अयोध्या में उल्लासपूर्ण वातावरण, राम और भरत का मिलाप, राम का राज्याभिषेक, रामराज्य का विस्तृत वर्णन, राम का प्रजा को उपदेश, श्रीराम-वशिष्ट-सम्वाद, नारद का आगमन, गरुड मोह, कागभुसुंडि द्वारा राम-भक्ति की महिमा का गुणगान, शिवजी द्वारा दिये गये शाप की कथा, गुरु की कागभुसुंडि पर कृपा, ज्ञान-भक्ति-निरूपण, भक्ति महिमा का गान, कागभुसुंडि-गरुड-सम्वाद, भजन-महिमा, फलश्रुति और रामायण माहात्म्य जैसे प्रसंगों का समावेश है। अन्त में रामायण जी की आरती प्रस्तुत की गयी है।

रामचरितमानस की कथा योजना में पुराण, महाकाव्य और नाटक तीनों शैलियों का समायोजन किया गया है। कथानक की प्रस्तुति के लिए चार वक्ताओ का उपयोग किया गया है जो सम्पूर्ण कथा का कथन करते हैं। इन्ही के साथ अनेक आनुषंगिक कथाओं का नियोजन किया गया है। यह शैली पुराणों की है। कथानक की विशद पृष्ठभूमि, प्रसंगो की योजना, जीवन के अन्यान्य प्रश्नों के समाधान का सन्धान, उदात्त मानवीय मूल्यों का प्रकाशन, विविध रसों का परिपाक, महान उद्देश्य की सिद्धि का प्रयास, चरित्रों का क्रमिक विकास आदि महाकाव्य की अपेक्षाओं के अनुकूल हैं। इसी प्रकार सम्वादों की योजना और गहन अनुभूतियों की अनुभावात्मक प्रस्तुतियों में मंचीय विशेषताओं का सहज समावेश हो गया है। इन तीनों शैलियों के सम्यक् समायोजन से रामचरितमानस में विलक्षण प्रभावान्विति उत्पन्न हो गयी है।

रामचरितमानस में निरूपित रामकथा की पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नियोजित रामकथा से अलग विशेषताएँ हैं। 'मानस' के पूर्व की रामकथा का जो स्वरूप प्रचलित था उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रश्न उपस्थित किये जाने लगे थे। निर्गुणवादी सन्तों ने राम को विष्णु का अवतार मानने से इनकार किया। कबीर ने 'रामनाम को मर्म है आना' कहकर दाशरथि राम के अस्तित्व को चुनौती दी। राम के अवतारी स्वरूप के सम्बन्ध में जो सम्भावित प्रश्न थे उन्हें पार्वती, भारद्वाज, गरुड़ जैसे मानस के श्रोता शिव, याज्ञवल्क्य और कागभुसुंडि जैसे वक्ताओं के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। इन्हीं माध्यमों से गोस्वामी जी ने अपने समय में उठने वाले प्रश्नों का निरसन किया और सगुण भक्ति के सार्थक स्वरूप की प्रतिष्ठा की। यह ग्रन्थ अपने समकालीन समाज में व्याप्त धर्माध्यात्म सम्बन्धी भ्रान्तियो का निर्मूलन करता है।

स्वयं गोस्वामी जी ने रामकथा को 'अतिगूढ़' कहा है। 'मानस' की कथा की गूढ़ता यह है कि यह कथा लौकिक और आध्यात्मिक धरातलों पर समानान्तर रूप से विकसित होती है। इस कथा-प्रवाह के लोक और वेद दो मंजुल कूल हैं। इसमें एक स्तर पर लौकिक जीवन की अन्यान्य व्यावहारिक कठिनाइयों के समाधान प्रस्तुत किये गये हैं तो दूसरी और आध्यात्मिक विकास की सरणियों को आलोकित किया गया है। राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, भाई-भाई, स्वामी-सेवक, ग्रामीण-नागरिक आदि सम्बन्धों के आदर्श रूप की प्रतिष्ठा की गयी है, उदात्त मानवीय आचरण और शीलाचारिकी का उत्कृष्टतम आदर्श प्रस्तुत किया गया है। 'मानस' में जीवन के आदर्शो का इतना प्रत्ययकारी निरूपण हुआ है कि जीवन की सभी समस्याओं का समाधान उसमें मिल जाता है। इसीलिए इसे जीवन का महाकाव्य कहा जाता है।

आध्यात्म की दृष्टि से *रामचरितमानस* रामभक्ति का राजमार्ग प्रस्तुत करता है। चातकव्रत के अनन्य भाव से की जाने वाली रामभक्ति ही आध्यात्मिक जीवन की चरम उपलब्धि है। इसके लिए उच्च शास्त्रीय ज्ञान, कठोर कायिक साधना अथवा कुल-गोत्र के आभिजात्य के स्थान पर एकनिष्ठ समर्पण की आवश्यकता होती है। यह एक सर्वसुलभ मार्ग है। इस प्रकार गोस्वामी जी ने पन्थों के बहुवाद में उलझी और अनेक प्रकार की भ्रान्तियों से ग्रस्त धार्मिक चेतना को एक सर्वग्राह्य और सर्वसुलभ स्वरूप प्रदान कर जनसाधारण का पथ-प्रदर्शन किया। *रामचरितमानस* में अभिव्यक्त लोक मंगल की समन्वयात्मक दृष्टि अपने समय में ही समादृत और अनुकरणीय बन चुकी थी और आज तक उसकी प्रासंगिकता और उपादेयता असंदिग्ध बनी हुई है।

रामचरितमानस को विद्वानों ने विश्वकाव्य कहा है। विदेशी विद्वान भी मानस के वैश्विक महत्त्व को स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थ में जीवन के हर पहलू और मानव-स्वभाव की प्रत्येक सम्भव दशा का सफल निरूपण किया गया है। दूसरी बात यह है कि प्रसंगों अथवा भावों के अभिव्यंजन में गोस्वामीजी के रागात्मक सामंजस्य से अनूठी प्रत्ययकारिता उत्पन्न हो गयी है। तीसरा कारण है मानव जीवन में मर्यादा का प्रतिष्ठापन। चौथा कारण है समन्वय की व्यापक दृष्टि। गोस्वामी जी ने निर्गुण-सगुण, शैव वैष्ण ज्ञान-भक्ति, लोक-वेद, व्यष्टि-समष्टि, त्याग-भोग, विरति-सामाजिक संसक्ति आदि का ऐसा सम्यक् समन्वय *रामचरितमानस* में हुआ है कि आपाततः विरोधी दिखायी पड़ने वाले दृष्टिकोण परस्पर पूरक अथवा एक दूसरे के सहायक प्रतीत होते हैं।

गोस्वामीजी का व्यापक अनुभवविश्व, गहन ज्ञान, एकनिष्ठ भक्ति भाव, प्रातिभ सामर्थ्य, समन्वयवादी रचनात्मक दृष्टिकोण, लोकमंगल के प्रति समर्पण, मर्यादावाद, उच्चतर जीवन-मूल्यों में अटूट विश्वास, उदात्त सौन्दर्य बोध और विलक्षण काव्य-कौशल अपने पूर्ण परिपाक के साथ रामचरित मानस में सगुण-साकार हुआ है। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से रामचरितमानस एक बेजोड़ ग्रन्थ है।

रामचरितमानस के रचनाकाल के सम्बन्ध में अन्तस्साक्ष्य का आधार उपलब्ध है। इसके आधार पर इस ग्रन्थ का रचनाकाल सम्वत् 1631 है। यथा–

सम्वत् सोरह सौ इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।

4

गोस्वामी जी की सामाजिक दृष्टि

समाज से अभिप्राय है मनुष्यों का समूह—'समाजो नरांणां संघः'। व्यक्तियों की इकाई से परिवार और परिवारों के योग से समाज की रचना होती है। आज समाज की अवधारणा अधिक व्यापक हो गयी है। विभिन्न समुदायो से लेकर राज्य अथवा राष्ट्र के विस्तृत वृत्त में आने वाले जनसमूह को एक समाज के अन्तर्गत समाविष्ट किया जाता है। व्यापक दृष्टिकोण वाले उदार व्यक्तियों के लिए समाज का विस्तार वसुधैव कुटुम्बकम की सीमा तक व्याप्त हो जाता है। समाज की अवधारणा का संकोच अथवा विस्तार दृष्टिकोण के स्वरूप पर निर्भर करता है। व्यापक दृष्टि से समाज मानव के विकास और कल्याण के लिए, कुछ स्वीकृत आदर्शो के आधार पर, परस्परावलम्ब के भाव से संगठित जन समूह है। इस जन समूह की जीवन शैली, चारित्रिक आदर्श, सांस्कृतिक निष्ठा, धार्मिक भावना, शीलाचारिकी, राजनैतिक व्यवस्था, संगठनात्मक शक्ति, रीति-नीति आदि के सम्बन्ध में निर्मित दृष्टिकोण को ही सामाजिक दृष्टिकोण कहा जाता है। इसी सन्दर्भ में गोस्वामी जी के सामाजिक दृष्टिकोण की चर्चा अभिप्रेत है।

राजनैतिक व्यवस्था का समाज पर सीधा प्रभाव पड़ता है। शासन चाहे एकतन्त्रीय हो चाहे प्रजातन्त्रीय या जनतन्त्रीय, उसकी सफलता-विफलता का सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है। यह प्रभाव बाह्य स्थितियों पर ही नहीं मानसिक स्थितियों पर भी पड़ता है। कुशासन की स्थिति में मनुष्य निगतिगामी प्रवृत्तियों का अनुगामी बन जाता है। आदर्श शासन व्यवस्था में आदर्श नागरिक गुणों का विकास होता है कहा भी कहा है—'*यथा राजा तथा प्रजा*'। गोस्वामी जी के समय में अकबर की उदार नीति, सूफियों की प्रेम साधना, इस्लाम के ऐकेश्वरवाद से तनाव में कमी अवश्य आयी, धार्मिक विद्वेष में भी कमी आयी किन्तु यह प्रभाव तत्कालीन परिस्थितियों से प्रसूत होने के कारण आन्तरिक प्रेरणा और प्रवृत्ति परिवर्तन का कारण न बन सका। मानव के आत्मिक उत्कर्ष और उदात्त मनोभावों के विकास

की प्रेरणा उसमें नहीं थी। इसलिए शासक और प्रजावर्ग दोनों में अधोगामी प्रवृत्तियों का ही विकास हो रहा था। अधिकार-लिप्सा, विषय-वासना के प्रति आसक्ति, शोषण की कुवृत्ति, विविध स्तरों पर मानसिक संकीर्णता आदि शासक और प्रजा दोनों वर्गों में विद्यमान थी। गोस्वामी जी इस स्थिति से संक्षुब्ध थे। वे समाज के सम्मुख एक उदात्त और रचनात्मक विकल्प प्रस्तुत करना चाहते थे। रामराज्य का उत्तम आदर्श ही वह विकल्प था जिसके द्वारा वे भारतीय समाज और संस्कृति के पुनरुत्थान और प्रतिष्ठापन की आशा कर सकते थे।

अपने समकालीन राजनैतिक परिवेश में गोस्वामी जी ने अनुभव किया कि भारतीय नरेश विगत स्वाभिमान होकर विषय-वासनाओं में लिप्त, आत्मवंचना के शिकार हो रहे थे। उनमें किसी अन्याय या अत्याचार के प्रतिकार का पौरुष नहीं था। मुग़ल शासक अपनी विवेकहीन और कठोर दण्डनीति से प्रजावर्ग को आतंकित करके उनका मनमाना शोषण करते थे। धन, धरती और नारी का बलात् अपहरण उनका सामान्य आचरण बन गया था। नीति, धर्म, आदर्श, त्याग, बलिदान, सेवा, न्यायनिष्ठा जैसे उदात्त भाव विलुप्त-प्राय थे। इस आत्मसुख और स्वार्थ केन्द्रित दानवी वृत्ति का मुक्त विकास ही रावण राज्य था। इसी के प्रतिरोध के लिए रामराज्य की आवश्यकता थी रामराज्य वस्तुतः लोकाराधन और लोक मंगल का सुपुष्ट आधार था।

गोस्वामी जी ने रामराज्य के माध्यम से जो आदर्श प्रस्तुत किया वह भारत में ही नहीं समस्त विश्व में आदरास्पद और अनुकरणीय है। कुछ विचारक रामराज्य की कल्पना को मात्र कल्पना प्रसूत और अव्यवहार्य मानते हैं किन्तु उन्हे यह स्मरण रखना चाहिये कि इस कल्पना का उद्देश्य रावण राज्य की असत प्रवृत्तियों की ओर से जनमानस का ध्यान रामराज्य की सात्विक प्रवृत्तियों की ओर आकर्षित करना था, लोगों को सत् की स्थापना के प्रति निष्ठावान बनाना था और इस दृष्टि से तुलसीदास के रामराज्य का आदर्श सर्वथा औचित्यपूर्ण, प्रेरक और प्रभावी है। यही कारण है रामराज्य कालसापेक्ष सन्दर्भ अथवा ऐतिहासिक घटना न रहकर एक सर्व स्वीकृत प्रतीक बन गया है। जहाँ कहीं भी सुख, शान्ति और सुव्यवस्था का बोध होता है। उसे 'रामराज्य' कह दिया जाता है। गोस्वामी जी द्वारा चित्रित रामराज्य कैसा था ? गोस्वामी जी लिखते हैं—

रामराज बैठे त्रय लोका। हरषित भये गये सब शोका॥
वयरू न कर काहू सज कोई। रामप्रताप विषमता खोई॥

गोस्वामी जी ने रामराज्य का वर्णन बहुत विस्तार से किया है। उस वर्णन की ये आरम्भिक पंक्तियाँ हैं। इन संक्षिप्त पंक्तियों में उत्तम राज्यादर्श के अनेक सूत्र

हाथ लगते हैं। राम कोशल के राजा बने किन्तु तीनों लोकों में प्रसन्नता की लहर फैल गयी। सभी के सब प्रकार के शोक विनष्ट हो गये। यह कैसे सम्भव हुआ ? इसका एक आशय तो यह निकलता है कि राम के उत्तम गुणों और रामराज्य के उदात्त आदर्शों से वैश्विक स्तर पर एक आश्वस्ति की निर्मिति हुई जिससे सभी लोग हर्षोत्फुल्ल हो गये। दूसरे स्तर पर कहा जा सकता है कि रामराज्य में भौतिक समृद्धि का ही विकास नहीं हुआ अपितु हार्दिक भावनाओं और बौद्धिक विचारसूत्रों को भी निरवरोध अवकाश मिला। परिणामस्वरूप आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक लोकों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। अर्थात् रामराज्य में भौतिक, समृद्धि, भावनात्मक आनन्द और वैचारिक समाधान, तीनों की उपलब्धि की व्यवस्था थी अथवा उस व्यवस्था में तीनों स्थितियों के लिए पूर्ण सुलभता थी। जिस समाज में शासन व्यवस्था की ओर से ऐसी सुख-सुविधा उपलब्ध होगी वह निश्चय ही आदर्श व्यवस्था होगी।

गोस्वामी जी त्रय लोक के हर्षित होने का कारण भी स्पष्ट करते हैं। "गए सब सोका" कहकर गोस्वामी जी स्पष्ट करते हैं कि राम के राज्य में त्रयलोक के हर्ष का कारण है सब प्रकार के शोकों का निर्मूलन। शोक तीन प्रकार के हैं दैहिक, दैविक और भौतिक। इन्हीं को त्रिताप भी कहा गया है। इन दुखों की कारण-मीमांसा करने पर ज्ञात होता है कि दैहिक दु:ख मनुष्य के अपने कुकृत्य के परिणाम होते हैं। मानसिक और शारीरिक रोग इसी के परिणाम होते हैं किन्तु भाव, विचार या कार्य की विपरीतता की पृष्ठभूमि मे समाज की विकृति का प्रभाव अनिवार्यता अनुस्यूत रहता है। दैविक दुखों का कारण प्रत्यक्षत: दिखायी नहीं पड़ता। वे प्रकृति अथवा अज्ञात शक्तियों द्वारा घटित होते हैं। दुर्भिक्ष, सूखा, बाढ़, अनावृष्टि अतिवृष्टि से उत्पन्न दु:ख इसी प्रकार के हैं। किन्तु आज का विज्ञान यह मानने लगा है कि प्राकृतिक नियमों के विशृखल में मानवीय व्यवहार का हाथ होता है। आज-कल माना जा रहा है कि जंगलों को काट देने से वर्षा अनियन्त्रित हो रही है। पर्यावरण के ऐसे अनेक तथ्य हमारे सामने प्रस्तुत हो रहे है। अर्थात् दैवी दुखो के लिए भी मनुष्य उत्तरदायी है। भौतिक दुखों के लिए मनुष्य उत्तरदायी है। भौतिक दुखों का कारण तो स्पष्ट रूप से सामाजिक ही है। चोरी, डाका, हत्या, शोषण, संघर्ष आदि भौतिक दु:ख समाज की दुर्व्यवस्था और सिद्धान्तहीनता के कारण उत्पन्न होते हैं। गोस्वामी जी कहते है।—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं व्यापा।

राम के राज्य में कोई भी त्रिपात से पीड़ित नहीं था अर्थात् व्यक्ति, समाज और प्रकृति में अपेक्षित सामंजस्य था। सभी अपने आदर्शो और नियमों के अनुसार

आचरण करते थे। यह स्थिति किसी भी राज्य अथवा राज्य-व्यवस्था के लिए काम्य है।

दूसरी पंक्ति में गोस्वामी जी बताते हैं कि राम के राज्य में परस्पर बैर भाव नहीं था अर्थात् सभी में परस्पर प्रीति भाव था। ऐसा किस प्रकार सम्भव हुआ गोस्वामी जी का उत्तर है, 'राम प्रताप विषमता खोई'। गोस्वामी जी मानते हैं, कि सामाजिक विषमता के कारण ही बैर-भाव की सृष्टि होती है। इस विषमता के लिए स्वार्थ एक कारणीभूत तत्त्व है जिससे ईर्ष्या-द्वेष जैसी कुवृत्तियो की सृष्टि होती है। विषमता और बैर भाव के रहते समतामूलक आदर्श समाज का संगठन असम्भव है। इसके लिए ऐसे शासक या नेता की आवश्यकता होती है जो अपने प्रताप से विषमता का निर्मूलन और समता का प्रतिष्ठापन कर सके। राम ने अपने प्रताप से यही किया। किन्तु यह प्रताप सेना या कठोर दण्ड विधान से सम्भव नहीं होगा। राम ने अपनी प्रजा को दण्ड नहीं दिया। उन्होंने भौतिक सुख-सुविधा प्रदान करने के साथ नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों का भी उपयोग किया। उनकी अगाध प्रजावत्सलता उदात्त नैतिक आचरण से संयुक्त थी। प्रजा उनके उदात्त चरित्र के प्रति प्रलुब्ध और अनुकरण के लिए कृत संकल्प थी। शासक अथवा नेता का यही वह प्रताप है जिससे विषमता का उन्मूलन सम्भव होता है। आदर्श समाज रचना के लिए शासक और प्रजा के बीच इसी प्रकार के सम्बन्ध की आवश्यकता होती है।

गोस्वामी जी रामराज्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था मानते हैं। रामराज्य में सम्पूर्ण समाज वर्णो में विभाजित था। शक्ति, गति और अभिरुचि के अनुसार सभी पूरी निष्ठा के साथ स्वधर्म का आचरण करते थे। ऋषियों-महर्षियों द्वारा निर्देशित जीवन की वैदिक रीतियॉं उन्हें प्रिय थी। अपने स्वधर्म सम्पादन में उन्हें आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती थी। इस प्रकार की जीवन-प्रणाली में सभी भय और शोक के भाव से पूर्णतया मुक्त थे। गोस्वामी जी लिखते हैं–

बरनाम्रम निज-निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय शोक न रोग।।

आधुनिक सन्दर्भ में वर्णाश्रम धर्म को लेकर अनेक प्रश्न उठाये जाते हैं और गोस्वामी जी के प्रतिगामी होने का आरोप लगाया जाता है किन्तु यह आरोप संगत नहीं है। आश्रम की व्यवस्था व्यक्ति-जीवन की एक अनुशासनबद्ध प्रणाली है जिसमें जीवन की चरम सार्थकता सम्भव हो सकती है। युवावस्था में एक व्यक्ति ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए ज्ञानार्जन करे, प्रौढ़ावस्था तक गार्हस्थ्य जीवन

के दायित्व का निर्वाह करे, गार्हस्थ्य जीवन के पश्चात् अपने वैयक्तिक वृत्त से ऊपर उठकर समाज-सेवा और आत्मचिन्तन का मार्ग अपनाये, वृद्धावस्था को प्राप्त होने पर मोह-माया जैसी बाधक मानसिकताओं से संन्यस्त होकर शान्ति का सन्धान करें, यही हमारी श्रुतिसम्मत आश्रम व्यवस्था है। किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के क्रमिक विकास का इससे अच्छा स्वरूप क्या हो सकता है। सामाजिक अथवा सामूहिक विकास के लिए आवश्यक है कि देश अथवा समाज के सदस्य अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार सामूहिक और सर्वांगीण विकास के लिए अपना योगदान करें। प्रत्येक समाज में सभी सदस्य एक ही क्षमता और रुचि के नहीं होते और न हो सकते हैं। समाज की आवश्यकता बहुविध होती है। उसे नेतृत्व अर्थात् बौद्धिक प्रबोधन की आवश्यकता होती है। बाह्य आक्रमणों अथवा आन्तरिक उत्पातं का मुक़ाबला करने के लिए रक्षक शक्ति की आवश्यकता होती है। आर्थिक ढाँचे को सुदृढ़ बनाने के लिए सम्पत्ति सम्बर्धन की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कृषिकार्य आदि के लिए सामान्य व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। बल, बुद्धि और कौशल के भेद से जिस प्रकार मानव स्वभाव में भिन्नता होती है उसी प्रकार सामाजिक स्तर पर कार्य सम्पादन के स्वरूप में भी भिन्नता होती है। इसलिए आवश्यक यही है कि 'गुण कर्म विभाग' के अनुसार मानवीय कार्यो का विभाजन किया जाये। इसमें हीनता अथवा विशिष्टता का प्रश्न नहीं उठना चाहिये। यही वह मार्ग है जिससे प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता का सार्थक उपयोग हो सकता है और समाज की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति भी इसी रूप में सम्भव है। यह भी आवश्यकता है कि नागरिकों पर ये कर्म आरोपित न किये जायें। वे स्वयं अपने अनुकूल कार्यो का स्वेच्छा से वरण करे और अपने लिए चुने गये कार्य के सम्पादन में हार्दिक आनन्द का अनुभव करें। वर्ण-व्यवस्था का यही मुख्य उद्देश्य है। गोस्वामी जी समाज और व्यक्ति के स्तर पर इसी वर्ण और आश्रम व्यवस्था के समर्थक थे। राम राज्य में सभी नर-नारी परस्पर प्रीति से बँधे थे। उनमें किसी प्रकार का दुराव या कपट नहीं था। यह स्थिति केवल इसलिए सम्भव हुई कि सभी ने स्वधर्म को श्रुति नीति से स्वीकार किया था अर्थात् अपने अनुभव और बौद्धिक चैतन्य के साथ स्वीकार किया था। गोस्वामी जी की उक्ति है—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्व धरम निरत श्रुति रीति।

नागरिकों में इस प्रकार की कर्तव्य भावना का उदय किसी भी समाज का गौरव है।

धार्मिक निष्ठा, भावनात्मक एकता और आत्मबल की वृद्धि में सहायक होती है। धर्म आत्म परिष्कार का भी प्रभावी साधन है। सत्य, शौच और दान धर्म

के चार चरण माने जाते हैं। इन्हीं के आधार पर धर्म प्रगति के पथ पर बढ़ता है। इन चरणों के सुदृढ़ और प्रतिष्ठित होने पर पाप कर्म के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। राम राज्य में

चारिहु चरन धरम जग मांही ' पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं ॥

इतना ही नहीं राम राज्य के सभी स्त्री-पुरुष आडम्बर और अभिमान से रहित, निष्कपट और गुणवान हैं। उनमें गुणवत्ता और गुणग्राहकता का मणि-कांचन योग है। सभी में आध्यात्मिक उत्कर्ष की लालसा है। जिस समाज में इस प्रकार की उदात्त वृत्तियों की व्याप्ति होगी वहाँ के लोगों में तो परस्पर प्रीति होगी ही। वस्तुतः यह प्रीति-प्रतीति सामाजिक जीवन की सर्वाधिक मूल्यवान उपलब्धि है।

जीवन में व्याप्त होनेवाले दुखों के कारण की खोज निरन्तर होती रही है। विभिन्न विचार धाराओं ने दुख के अलग-अलग कारण निश्चित किये। ज्योतिषियों के अनुसार काल-प्रवाह की निरन्तरता और अनन्तता के कारण घटित होने वाला जागतिक परिवर्तन सुख या दुख का मूल कारण होता है। मीमांसकों के अनुसार सुख या दुख कर्म प्रवाह का अनिवार्य परिणाम है। सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति के मेल से विश्व स्वभाव की सृष्टि होती है। पुरुष निर्विकार और अपरिवर्तनशील होता है किन्तु प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत, रज, तम गुणों का विक्षोभ ही दुख की सृष्टि का मूल कारण है। पुरुष दुख-सुखात्मक अनुभूतियो से निर्लिप्त रहता है। प्रकृतिवादी मानते हैं कि परिवर्तनशील प्रकृति का मूल स्वभाव ही ऐसा है कि कालक्रम के प्रभाव से स्थितियों में परिवर्तन एक सहज क्रिया के रूप में होता रहता है। यदि इन मान्यताओं के आधार पर विचार किया जाये तो मानना होगा कि दुख का कारण काल, कर्म, गुण या स्वभाव हैं। इन्हीं से त्रितापों की सृष्टि होती है। किन्तु राम की पुनीत राज्य व्यवस्था में इनका कोई स्थान नहीं था। इसमें जहाँ एक ओर राम की दिव्य शक्तियाँ और उदात्त प्रवृत्तियाँ कारणीभूत थीं वहीं पर वृहत्तर जन समाज की मनोवृत्तियाँ भी सहायक थी जिनसे काल, कर्म, गुण और स्वभाव की विपरीत परिणतियों को नियन्त्रित करना सम्भव था। सामाजिक समृद्धि, शान्ति और प्रगति के लिए मूल्यनिष्ठ, श्रमनिष्ठ और चरित्रवान नागरिकों की आवश्यकता होती है। रामराज्य के सुयोग्य नागरिकों के सम्बन्ध में गोस्वामी जी लिखते हैं—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥

ध्यातव्य है कि रामराज्य के कुछ गिने-चुने नागरिक ही सुयोग्य और सुसंस्कृत नहीं थे। सभी नागरिक बौद्धिक सामर्थ्य और चारित्रिक औदात्य के साथ समृद्ध और सुखद जीवन व्यतीत करने वाले थे। 'न लच्छनहीना' कहने में गोस्वामी जी का

विशेष उद्देश्य है। रामराज्य में कोई दुःखी, दीन या दरिद्र नही है। सभी स्वस्थ, सुन्दर और रोग रहित है। इस प्रकार की सामाजिक उपलब्धि का कारण केवल भौतिक विकास नहीं हो सकता। भौतिक विकास अपनी एकांतिकता मे स्वयं अनेक दुखों का जनक होता है। भौतिक समृद्धि तो लंका में भी थी किन्तु वहाँ राक्षसता निवास करती थी। रामराज्य के नागरिक शुभ लक्षणों से युक्त थे अर्थात् विकार रहित, चरित्रवान्, सात्विक, ज्ञानवान संयमी विवेकी, ऐश्वर्यशाली, सुसंस्कृत और स्वाभिमानी थे। इस प्रकार के उदात्त लक्षणों से युक्त नागरिकों वाले समाज में त्रिताप की पीड़ा का प्रश्न ही नहीं उठता।

कलियुग-वर्णन में गोस्वामी जी ने मुग़लकालीन कठोर दण्ड-व्यवस्था को 'केवल दण्ड कराल' कहकर संकेतित किया है। दण्ड और दमन पर आधारित शासन-व्यवस्था विवेकहीनता और प्रजा-द्रोह का प्रमाण है। मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि अविचारित दण्ड-विधान प्रतिशोधात्मक प्रतिक्रिया का निर्माण करता है। कठोर शासन-व्यवस्था में शासक शक्ति और दण्ड-भय के आन्तक के बावजूद प्रजावर्ग में विरोध और असन्तोष की आग धूमायित होती रहती है। असन्तोष, आतंक, अनिच्छा और अविश्वास के वातावरण में रचनात्मक विकास, आर्थिक समृद्धि और मानसिक शान्ति असम्भव है। गोस्वामी जी ने अपने समकालीन समाज में व्याप्त इसी प्रकार के असन्तोष और विरोध भाव का साक्षात्कार किया था। रामराज्य के जिस आदर्श को वे प्रस्तुत कर रहे थे उसमें राजा-प्रजा के सम्बन्धों में दरार की ऐसी सम्भावना ही नहीं थी। प्रजावत्सल शासक की प्रीति पगी प्रजा में परस्पर अनुराग था। प्रजा राजा राम को ईश्वर मानकर पूजती थी। इस स्थिति में साम-दाम की तो कुछ सम्भावना हो सकती थी किन्तु दण्ड और भेद जैसी नीतियों का तो लोगों को पता तक न था। दण्ड केवल यतियों द्वारा धारण किया जाने वाला दण्ड था और भेद का उपयोग नृत्य प्रकारों के लिए किया जाता था। गोस्वामी जी लिखते हैं—

दंड जतिन्हकर भेव जहँ, नरतक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिं सुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥

दण्ड और भेद जैसी नीतियों की नितान्त अनुपस्थिति का कारण भी गोस्वामी जी स्पष्ट कर देते हैं। सभी नागरिक अपने-अपने मन पर पूर्ण अधिकार रखते थे। अर्थात सद्वृत्तियों और सदाचार के अनुयायी थे। उनके लिए दण्ड भेद की आवश्यकता ही नहीं थी।

प्राकृतिक उपादानों का मानव-जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। प्रकृति पर मनुष्य का आत्यन्तिक नियन्त्रण नहीं होता किन्तु प्रकृति के साथ सामंजस्य

और सहयोग के अभाव में मानव-समाज सुख और समृद्धि की आशा नहीं कर सकता। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि प्राकृतिक शक्तियाँ मानव समाज की आशाओं और अपेक्षाओं के अनुसार अपना प्रसाद प्रदान करती थी। इसे रामराज्य की आदर्श-व्यवस्था का प्रतिफल मानना चाहिये। दूसरे शब्दों में सामाजिक सुव्यवस्था और मनुष्य की आचरणभूत उदात्त वृत्तियों का परिणाम मानना चाहिये। गोस्वामी जी कहते हैं–

विधि महिपूर मयूखन्हि, रवितप जितनेहि काज।
माँगे बारिद देहि जल, रामचंद्र के राज।

इस दोहे में जहाँ एक ओर रामराज्य की विशेषताओं के कारण सूर्य, चन्द्रमा और बारिद के साथ मनोवाछित सामंजस्य का सकेत मिलता है वहीं पर तत्कालीन समाज की सुख-समृद्धि का भी प्रमाण मिलता है। सूर्य ऊर्जा का आधान है। उसका ताप अपेक्षित वितरण सृष्टिमात्र के विकास का आधार है। चन्द्रमा की किरणें धरती पर वनस्पतियों में रस संचार करती है। बादलों का जल तो जीवन का स्वरूप ही है और कृषि-संस्कृति के लिए तो नियमित वृष्टि बादलों द्वारा आवश्यकतानुसार जलदान किसी भी कृषि-प्रधान समाज के लिए सुख, समृद्धि और आरोग्य का कारण बन सकता है। राजराज्य में चेतन और जड़ जगत के बीच सम्यक समन्वय और सामंजस्य असीम सामाजिक सुख और समृद्धि का एक प्रमुख कारण था। आदर्श सामाजिक व्यवस्था में इस सामंजस्य के आधारभूत तत्त्वों के सामाजिकों का तत्पर और सचेष्ट बना रहना अनिवार्य है। इस सामंजस्य से ही भौतिक समृद्धि, उत्तम शारीरिक स्वास्थ्य और आत्मिक शान्ति सम्भव होती है।

राम के चित्रकूट-निवास प्रसंग में गोस्वामी जी ने एक सांगरूपक के आधार पर उत्तम समाज व्यवस्था और सुराज का विवेचन किया। एक ऐसी समाज व्यवस्था और सुराज जो पूर्णतया ईति-भीति और त्रिताप से मुक्त है। जहाँ पहुँचकर प्रत्येक क्षुधित मुदित हो जाता है। गोस्वामी जी लिखते हैं–

राम वास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिरागु विवेक नरेसू। विपिन सुहावन पावन देसू॥
गढ़ जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥
सकल अंक संपन्न सुराऊ। रामचरन आश्रित चित चाऊ॥
जीति मोह महिपाल दल, सहित विवेक भुवालु।
करत अकंटक राज पुरँ सुख संपदा सुकालु॥

स्वामी, आमात्य, सुहद, कोष, राष्ट्र दुर्ग और सेना राज्य के सात अंग है। शासन चाहे एकतन्त्रीय हो अथवा जनतन्त्रीय, व्यवस्था की दृष्टि से ये तत्त्व महत्त्वपूर्ण

हैं। जनतन्त्रीय प्रशासन व्यवस्था में भी प्रकार भेद से इन तत्त्वों की अनिवार्यता होती है। किन्तु ये केवल बाह्य तत्त्व ही नहीं आन्तरिक तत्त्व भी हैं। इन तत्त्वों के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को आदर्श बना सकता है और इस प्रकार आदर्श समाज की रचना और व्यवस्था में अपना योगदान कर सकता है।

गोस्वामी जी के मतानुसार किसी भी शासक या नेता को विवेक का विग्रह होना चाहिये। विवेक द्वारा ही करणीय और अकरणीय का उचित विभाजन सम्भव होता है। विधान संहिताओं, धार्मिक नीतियों और शासन के शास्त्रीय विधानों के बावजूद शासक को विषय परिस्थितियों में अपने पर निर्भर रहना पड़ता है। विवेक शक्ति के अभाव में अन्य योग्यताएँ अनेक बार निरर्थ सिद्ध होती हैं। समसामयिक परिस्थितियों में अनेक बार परम्परा से अलग हटकर नीतियों और नियमों का निर्धारण शासक को करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में विवेक ही उसका साथ देता है। विवेक ही मोह जनित दुर्बलताओं से भी मुक्त करता है। इसलिए गोस्वामी जी शासक का विवेकवान होना अनिवार्य मानते हैं। भारतीय शासन व्यवस्था की परम्परा में सचिवों का स्थान अत्यन्त आदरास्पद रहा है। सचिव राज्य व्यवस्था का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। गोस्वामी जी के अनुसार जिस प्रकार स्वामी को विवेक की प्रतिमूर्ति होना चाहिये उसी प्रकार सचिव विराग का अवतार होना चाहिये। अर्थात् उसे अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष से पूर्णतया विरक्त होकर मूल्यधर्मी न्यायनिष्ठता के साथ स्वामी को परामर्श देना चाहिये, उसमें विरक्त व्यक्ति की वस्तुनिष्ठता और निर्भीकता होनी चाहिये। ऐसे सचिव राज्य व्यवस्था के संचालक और नियन्त्रक दोनों होते हैं। आज हमारे देश में वैतनिक और अवैतनिक प्रकार के असंख्य सचिव हैं। विरज विशुद्ध प्रशासन को विकृत करने में उनकी स्वार्थी भूमिका से हम भली-भाँति परिचित हैं। इस अवदशा का मुख्य कारण इन परामर्शदाता सचिवों में विराग भाव की अनुपस्थिति है।

शासन-व्यवस्था में तीसरा स्थान सुहृद मंडली का होता है। यह मंडली उन शुभचिन्तकों की होती है जो चरित्र और व्यवहार, हृदय और बुद्धि, नीति और रीति की दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्तित्व रखते हैं। ये सुराज के पक्षधर और स्वामी के विश्वासपात्र होते हैं। गोस्वामी जी ने शान्ति और सुमति रानियों के रूप में इसी वर्ग में रखा है। इन रानियों का सुन्दर होने के साथ ही शुचि होना भी आवश्यक है अर्थात् उनमें बाह्य व्यवहार की उदात्तता के साथ ही शुचि होना भी आवश्यक है अर्थात् उनमें बाह्य व्यवहार की उदात्तता के साथ चारित्रिक पवित्रता भी अपेक्षित है। रानी राजा की अन्तरंग, शुभाकांक्षी, सहयोगिनी और आत्मीय सहधर्मिणी होती है। राज्य-व्यवस्था से सीधा सम्बन्ध न होने पर भी रानी के स्नेह, सौहार्द, त्याग,

सहयोग आदि का महत्त्वपूर्ण प्रभाव राज्य-व्यवस्था पर पड़ता है। रानी शान्ति का प्रतिरूप है। आन्तरिक शुचिता और बाह्य आकर्षण से युक्त शान्ति और सुबुद्धि यदि समाज व्यवस्था के मूल में निहित हो जाये तो उससे अच्छा और क्या हो सकता है। नारी वर्ग की महती भूमिका भी इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है।

राज्य-व्यवस्था के सुचारु सम्पादन के लिए राजकोष की आवश्यकता होती है। कोष अर्थात् वह संचित सम्पदा जो समाज के सर्वांगीण विकास में सहायक हो सके। यह दो रूपों में सम्भाव्य है एक तो अर्थ सम्पति अर्थात् सोने, चाँदी, हीरे, जवाहरात के रूप में, दूसरे समाज के न्यायनिष्ठ, मूल्य धर्मी आदर्श राष्ट्रीय चरित्र के रूप में। केवल भौतिक धन सम्पत्ति से आदर्श समाज की रचना सम्भव नहीं है। उसकी वास्तविक शक्ति तो नागरिकों के उदात्त चरित्र में होती है। उदात्त चरित्र ही मानवीय कल्याण, विश्वबंधुत्व जैसी भावनाओं को प्रेरित कर सकता है। गोस्वामी जी मानते हैं कि चारित्रिक औदात्य जनित इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए 'रामचरन आश्रित' होना आवश्यक है। ईश्वर निष्ठा से मानव जीवन की सार्थकता से पहचान होती है। यह एक ऐसा कोष है जिससे कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र सार्थक विकास की दिशाओं का संधान कर सकता है।

पाँचवें तत्त्व राष्ट्र अथवा देश के सम्बन्ध में गोस्वामी जी का मत है कि उसे सुहावन और पावन दोनों होना चाहिये। अभिप्राय यह है कि कोई भी समाज देश अथवा राष्ट्र जिस प्रकार अपनी आन्तरिक स्थिति अर्थात् विचार और भाव के स्तर पर परम पुनीत होना चाहिये। ऐसा होना पर ही वास्तविक सुराज सम्भव हो सकेगा।

छठवें तत्त्व राजधानी को गोस्वामी जी ने शैल के रूप में निरूपित किया है। राजधानी अर्थात् प्रशासन का केन्द्र। केन्द्र को शैल की भाँति उन्नत और सारगर्भ दोनो होना चाहिये। तभी समाज के उचित निरीक्षण और संचालन की व्यवस्था हो सकेगी। इसी शैल से उद्‌गमित स्नेह, सौजन्य, सहयोग, प्रोत्साहन, शील और सदाचार के जनोन्मुख निर्झर-प्रवाह जन समाज को सार्थक जीवन की रसधारा से सिक्त कर सकेंगे। तुलसीदास को प्रशासन केन्द्र अथवा राजधानी का वही स्वरूप काम्य है जिसमें अर्जन की अपेक्षा विसर्जन की प्रवृत्ति प्रधान हो, जिसमें समाज के भीतर सुख-शान्ति की स्थापना के साथ ही आत्मिक विकास की ओर प्रेरित करने की शक्ति हो, जिसमें बाह्य व्यवस्था की मूल के तत्त्वदर्शी दृष्टि का निधान हो।

सातवाँ तत्त्व राजसेना है। सेना का प्रमुख काम है बाह्य आक्रमण का प्रतिरोध और आन्तरिक शान्ति का प्रतिष्ठापन। प्रत्येक देश अपनी सुरक्षा के लिए सेना

का गठन करता है, किन्तु प्रत्येक स्थिति में बाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति का निर्मूलन सम्भव नहीं होता। आश्चर्य तो तब होता है जब सैनिकों के तैनात रहने पर भी घुसपैठिये प्रविष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी सैनिक स्वयं उपद्रव का कारण बन जाते हैं। इस प्रकार की सेना का कितना विश्वास किया जा सकता है। दूसरा प्रश्न व्यक्ति की आन्तरिक अशान्ति का है। उसके लिए किस सेना को तैनात किया जाये गोस्वामी जी यज्ञ और नियम को भी महाभट मानते हैं। वही आन्तरिक और बाह्य व्यवस्था को नियन्त्रित कर सकते हैं। यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, नियम अर्थात् शौच, सन्तोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। यम और नियम की इन्हीं विशेषताओं से सम्पन्न होकर कोई सैनिक राष्ट्र-रक्षा का दायित्व निभा सकता है और इन्हीं गुणों के आधार पर कोई भी व्यक्ति अपने आन्तरिक शत्रुओं को पराजित कर सकता है। इसी शक्ति से 'मोह महिपाल' का पराभव भी सम्भव है और इसी शक्ति से सुख, संपदा और सुकाल से युक्त निष्कंटक समाज और राज्य की व्यवस्था आदर्श स्थिति को प्राप्त कर सकती है। गोस्वामी जी इसी प्रकार की विशेषताओं से युक्त सुराज को रामराज्य की संज्ञा दिये हैं।

जिस रावण-राज्य का वर्णन गोस्वामी जी ने किया है वह वस्तुतः उनके समय की परिस्थितियों का ही विवेचन है। उस समय की संकीर्ण राजनीति में धर्म अपने व्यापक अर्थ को खो चुका था। शासक वर्ग द्वारा मूर्ति-पूजा का घोर विरोध, भारतीय सन्तों द्वारा निराकार ब्रह्म की साधना पर अतिरेकी बल, धर्म परिवर्तन के लिए प्रलोभन और बल प्रयोग आदि के प्रभाव से हिन्दू जनता भ्रान्त होकर उत्तरोत्तर शासक वर्ग की ओर झुकती जा रही थी। नये-नये पन्थों का बाहुल्य हो रहा था। परम्परा से चले आ रहे शास्त्र सम्मत धर्म को छोड़कर लोग नये-नये पन्थ चला रहे थे। यह समाज के बिखराव का कारण बना। बहु पन्थवाद में समाज को सगठित करनेवाली आचारमूलक धार्मिक भावना विलुप्त होने लगी थी। गोस्वामी जी समाज की विपर्यस्तता के दारुण परिणामों से परिचित थे। अज्ञान अथवा मोह के मद से उन्मत्त जन समाज को पथ-भ्रष्ट होते देखकर उन्हें तीव्र संक्षोभ हो रहा था। वे समाज में एक नूतन व्यवस्था के आकांक्षी थे। इसीलिए उन्होंने रामराज्य के उदात्त सामाजिक आदर्शों को प्रतिष्ठित करने के लिए *रामचरितमानस* जैसे ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने एक ऐसे युग-धर्म का सन्देश दिया जिसमें सगुण-निर्गुण के भेद को समेकित करके राम के नाम का जप ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। नाम के जप को गोस्वामी जी ने सर्वसुलभ और सर्वस्वीकृत राजमार्ग के रूप में प्रतिष्ठित किया।

गोस्वामी जी ने अनुभव किया था कि बहुवाद के वातावरण में किसी एक पन्थ या धर्म-साधना-प्रणाली का समर्थन विवाद को बढ़ावा देता था। किसी भी मत के प्रति आग्रह या दुराग्रह विरोधी प्रतिक्रिया को जन्म देता है। प्रत्येक पन्थ या सम्प्रदाय अपनी आत्म रक्षा के लिए शक्ति संचित करता है। इन विरोधी स्थितियो का व्यापक प्रभाव समाज पर भी पड़ता है। समाज विभिन्न सम्प्रदायों मे विभक्त होकर परस्पर विद्वेष-भाव से ग्रस्त हो जाता है। परस्पर दरारें गहराती जाती हैं। इस स्थिति में गोस्वामी जी ने खण्डन-मण्डन की नीति को छोड़कर सम्प्रदाय निरपेक्ष समाज की रचना पर बल दिया। उन्होंने मानवतावादी सिद्धान्तों पर आधारित एक ऐसे समाज की आदर्श व्यवस्था दी जिसमें राम के आदर्श को अपनाने के लिए बौद्ध, जैन, शैव शाक्त, वैष्णव, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि को अपने धर्म या सम्प्रदाय को छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। राम नाम के जाप में ही गोस्वामी जी ने योग, संयम, द्वेत, अद्वैत, प्रेम, भक्ति, विश्वबन्धुत्व आदि को समन्वित करके एक विलक्षण रसायन तैयार किया जिसके आस्वाद लेते ही सामाजिक परिष्कार और आत्मतोष की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। राम के जीवन का उदात्त आदर्श आस्तिक-नास्तिक सभी प्रकार के लोगों के लिए समान रूप से प्रेरक उत्साहवर्धक और अनुकरणीय लगता है। धर्म का यह स्वरूप सम्पूर्ण समाज को भावनात्मक स्तर पर अपनी सम्प्रदाय परम्परा का पालन करते हुए भी एकत्र करने में सक्षम था। समाज के इसी सुसंगठित रूप को आकार देने के लिए गोस्वामी जी ने सभी पन्थों या सम्प्रदायों के ग्रहणीय गुणों को समन्वित करके रामकथा का ताना-बाना बुना। गोस्वामी जी ने धर्म की एक ऐसी व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की जो किसी भी धर्म या सम्प्रदाय की मान्यताओं के विपरीत नहीं पड सकती, जिसे विश्व का कोई भी धर्म नकार नहीं सकता। उन्होंने परिभाषित किया कि–

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

परहित अर्थात् लोकमंगल के साधन और पर पीड़ा के निवारण का व्रत किसी भी समाज को आदर्श बना सकता है। जिस समाज के नागरिक लोक मगल या परोपकार के प्रति संकल्पित होंगे और पर पीड़ा को घोर पाप समझकर उससे बचने के लिए निरन्तर सावधान रहेंगे उस समाज में स्वार्थ ईर्ष्या-द्वेष, मोह, कलह, शोषण जैसी कुवृत्तियों के लिए कोई स्थान ही न होगा। धर्म की इतनी व्यापक, अर्थ गर्भ और सार्वभौम आचरणमूलक परिभाषा शायद ही अन्यत्र उपलब्ध हो सके। परस्पर प्रेम और समता भाव पर आधारित समाज की आकांक्षा रखनेवालों के लिए यह धार्मिक दृष्टि शाश्वत मूल्य रखती है।

गोस्वामी जी सामाजिक अथवा राष्ट्रीय जीवन में संगठन के महत्त्व को भली

प्रकार पहचानते थे। निर्बैर भाव की भावनात्मक एकता जहाँ परस्पर प्रेम, सहयोग सद्भाव और सहानुभूति की वृत्ति को विकसित करती है वही संगठित शक्ति की भी वृद्धि करती है। संगठन के विरोधी तत्त्वों को निर्मूल करके सम्यक समन्वय की आवश्यकता होती है। यह समन्वय वस्तुनिष्ठ ढंग से गुणों के एकत्र सचय से सम्भव होता है। एक ऐसा सचित रूप जिसमे प्रत्येक व्यक्ति, समाज या समुदाय अपनी भावनात्मक तुष्टि और विकास-सम्भावना का सन्धान कर सके। गोस्वामी जी का यही प्रयास रहा कि लोग धर्म, आचार और नीति के तात्विक मूल्यो को पहचानकर उन्हें अपने व्यावहारिक जीवन मे आचरित करें। विवेकी व्यक्ति या समाज के लिए यह तत्त्वनिष्ठता की कल्याणप्रद है। किसी रूढ परम्परा, पन्थ या सम्प्रदाय का अन्धानुकरण मनुष्य को कुंठित और तर्कशून्य कर देता है। ऐसी स्थिति मे युग की वास्तविक पहचान असम्भव हो जाती है। दोपों के समूह में गुणों की पहचान और निष्ठा पूर्वक उनकी स्वीकृति प्रगतिशील समाज का मूल मन्त्र है। गोस्वामी जी कहते है—

जड़ चेतन गुन-दोषमय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारिविकार॥

हस की भाँति नीर-क्षीर विवेक की शक्ति और प्रवृत्ति परिशोधन और परिष्करण के लिए निरन्तर तत्पर रहती है। इसी से युगधर्म की पहचान और प्रतिष्ठा सम्भव होती है। गोस्वामी जी राम ही नहीं रामकथा के अन्य श्रेष्ठ पात्रों द्वारा भी इसी विवेक को प्रतिष्ठित करते है।

तुलसीदास जी सामाजिक जीवन में व्यक्ति, परिवार, समाज और शासन के परस्पर सम्बन्धों में मूल्यधर्मी सामंजस्य की भूमिका को बार-बार रेखांकित करते है। व्यक्तित्व में राम, भरत, लक्ष्मण, हनुमान, आदि के आदर्श हमें जीवन के उदात्ततम से परिचित कराते हैं। परिवार के लिए उन्होंने राम के परिवार का आदर्श हमारे सामने रखा। राम का परिवार आदर्श और मर्यादा का चरमरूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है। कैकयी कौशल्या की सपत्नी है किन्तु कौशल्या उसे राम महतारी कहकर सम्बोधित करती है। कैकयी के प्रति एक भी कटु शब्द का प्रयोग नहीं करती। इसके विपरीत वे कैकयी के आदेश को दशरथ से भी अधिक महत्त्व देती है। राम द्वारा वन-गमन की सूचना देने पर कौशल्या स्पष्ट शब्दों में कहती है—

जौ केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौ पितु-मातु कह्यो बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

यहाँ जिस मातु का संकेत किया गया है वह कैकयी ही हैं। सुमित्रा राम के साथ

वन जाने और उनकी सेवा करने में लक्ष्मण का परम सौभाग्य मानती हैं। परस्पर की इस आत्मीयता और शील-सौजन्य का प्रभाव यह पड़ता है कि चित्रकूट में राम और सीता के प्रेमपूर्ण व्यवहार को देखकर कैकयी स्वय ग्लानिग्रस्त हो जाती है। उनका मन पश्चात की ज्वाला में जलने लगता है।

अवनि जमहिं जाचति कैकई। महि न बीचु विधि मीचु न देई॥''

राम के राज्याभिषेक की घोषणा हुई। गुरु वसिष्ठ उन्हें आवश्यक मन्त्रणा देने के लिए आये। इस समाचार से राम को प्रसन्न होना चाहिये था किन्तु राम इसके विपरीत चिन्तामग्न हो गये। वे सोचते हैं–

जनमें एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपवीत विवाहा। संग संग सब भये उछाया॥
विमल बंश यह अनुचित एकू। बंधु विहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन की कुटिलाई॥

पारिवारिक जीवन में राम की इस सोच का तात्विक महत्त्व है। सभी भाई एक साथ जन्मे सारे संस्कार एक साथ हुए फिर केवल बड़े भाई का ही अभिषेक हो यह राम के अनुसार एक अनुचित परम्परा है। यह निःस्वार्थ भाव राम के चरित्र का प्रधान गुण है। राम का यह चिन्तन अथवा अनुचित परम्परा के प्रति पश्चाताप निश्चय ही स्वार्थी मन की जड़ता को दूर करनेवाला है। यही त्याग भाव भरत और लक्ष्मण में भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। राम के परिवार के उच्च आदर्शो से सभी धर्म और सम्प्रदाय के लोग समान रूप से प्रेरणा ग्रहण कर सकते है। आज के परिवारों में बढ़ती आत्ममुखता और संकीर्ण-मनोवृत्ति के कारण त्याग, स्नेह और सहयोग पर आधारित संयुक्त परिवार की आदर्श परम्परा विश्रृंखल होती जा रही है। यह हमारी संस्कृति के भी क्षरण का द्योतक है। गोस्वामी जी संयुक्त परिवार की परम्परा के ही समर्थक थे।

सामाजिक संगठन में कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है। नेतृत्व की विशेपता यह होनी चाहिये कि उसमें सभी का अटूट विश्वास हो। भय अथवा किसी अवांछित दबाव की आशंका न हो। प्रत्येक व्यक्ति अपनी राय देने अथवा शंकाओं को प्रकट करने के लिए स्वतन्त्र हो। साथ ही नेता अथवा शासक सभी के प्रति उदार सहिष्णु और तत्पर हो। यही वास्तविक जनतन्त्र है। गोस्वामी जी ने राम के राज्य में इसी जनतन्त्रीय व्यवस्था की प्रतिष्ठा की है। यह जनतन्त्रीय व्यवस्था वाल्मीकि को भी काम्य थी। उन्होंने भी राजा को जनमत के प्रति उत्तरदायी माना है। जनमत ही सीता के निष्कासन का कारण बन गया था। गोस्वामी जी के राम भी जनमत के प्रति पूर्णतया उत्तरदायी हैं। ध्यातव्य है कि गोस्वामी जी

के युग में जनमत नगण्य था। एकतन्त्रीय शासन में शासक की प्रतिक्रिया ही कानून थी। बात-बात पर लोगों को तलवार के घाट उतार दिया जाता था हाथी के पैर के नीचे कुचलवा दिया जाता था, सामूहिक हत्याए की जाती थी, जनता के प्रतिवाद को क्रूरता से कुचल दिया जाता था। कराल दण्ड की प्रधानता की बात हम पहले कर चुके हैं। गोस्वामी जी इसी दारुण स्थिति का विकल्प रामराज्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। राम प्रशासनिक नीतियों का अनुमोदन पुरवासियों से लेना आवश्यक मानते हैं। वे उन्हें निर्भीक भाव से अपनी राय देने को प्रोत्साहित करते हैं। राम कहते हैं–

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहौं न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुमहि सुहाई॥
जौ अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

इन शब्दों में प्रजा के अधिकार की असीमता के साथ ही राम की प्रजा वत्सलता का भी प्रमाण मिलता है और इसके साथ ही शासक और शासित के बीच विद्यमान परस्पर प्रेम और विश्वास का भी। सामाजिक सगठन की यही आदर्श स्थिति है जिसे गोस्वामी जी प्रतिष्ठित करना चाहते थे।

गोस्वामी जी पर बहुत से विचारक ब्राह्मणवादी जातिवादी स्त्री निन्दक, प्रतिगामी आदि होने का आरोप लगाते है। ये आरोप प्रायः खण्डित दृष्टि और दुराग्रह के परिणाम है। यह सच है कि गोस्वामी जी वैदिक काल से चली आ रही शास्त्र सम्मत और श्रुतिसमर्थित वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक थे किन्तु उसका आधार जाति न होकर गुण-कर्म विभाग ही था। यदि वे जातिवादी होते तो उनके राम शबरी के जूठे बेर क्यो खाते, काग भुसुंडि को पक्षिराज गरुड़ का पूज्य क्यो बनाते, निपाद जैसे निम्नवर्गीय व्यक्ति को राम गले से क्यो लगाते यदि वे ब्राह्मणवादी थे तो क्षत्रिय कुलोत्पन राम से ब्राह्मण रावण का वध क्यों कराते शिष्यो का धन हरनेवाले गुरुओं के लिए नर्क की कामना क्यों करते। यह भी ध्यातव्य है कि गोस्वामी जी ने ब्राह्मण शब्द का तो प्रयोग ही नहीं किया है। वे विप्र शब्द का ही प्रयोग करते हैं। विशिष्ट प्रज्ञासम्पन्न व्यक्ति ही विप्र होता है। विप्र वस्तुतः उनके लिए सात्विक ज्ञान का प्रतीक है।

सापत ताड़क परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं संता॥
पूजिय विप्रसील गुन हीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रवीना॥

यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि इस सन्दर्भ में केवल विप्र और शुद्र का ही विचार किया गया है। यदि इसका आधार जाति होता तो क्षत्रिय और वैश्य की भी चर्चा होनी चाहिये थी। इसलिए इनका प्रतीकात्मक अर्थ ही गोस्वामी जी को

अभिप्रेत है। जातिगत दृष्टि के बारे में स्वय राम शबरी से कहते है—

> **जाति पाँति कुल धर्म वड़ाई। धन वल परिजन कुल चतुराई॥**
> **भगति हीन पर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥**

राम तो केवल भक्ति का ही नाता मानते है—'हरि को भजै सो हरि का होइ।' गोस्वामी जी के लिए यह भक्ति ही वह मानक है जिसके आधार पर सार्थक जीवन की व्याख्या सम्भव है। वे विनय पत्रिका में स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं—

> **जाके प्रिय न राम बैदेही**
> **तजिए ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।**

स्त्री निन्दा के सम्बन्ध में जो बातें कही जाती हैं वे कतिपय उक्तियो को सन्दर्भो से अलग करके प्रस्तुत करने के कारण कही जाती है। नारी में 'अवगुण आठ सदा उर रही ही।' रावण की उक्ति मन्दोदरी के प्रति है। 'ढोल गँवार शुद्र पशु नारी' भयभीत समुद्र की उक्ति है जो स्वभाव से जड है। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रसग भी है। वस्तुत· मन्दोदरी, तारा आदि नारियॉ अपने पतियो से अधिक विवकेशील है। कौशल्या यदि दशरथ के आदेश को निरस्त करती है तो समाज मे स्त्री के सम्मानित स्थान का प्रमाण मिल जाता है। पार्वती और सीता शक्ति स्वरूपा नारियॉ है। गोस्वामी जी के इन नारी पात्रों के साक्ष्य पर कैसे कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी नारी निन्दक थे। इस सन्दर्भ में स्वतन्त्र रूप से विस्तृत विचार की आवश्यकता है। यहॉ इतना सकेत ही पर्याप्त है कि गोस्वामी जी के मन मे नारी के प्रति गहरा सम्मान भाव है और उसकी सामाजिक भूमिका की महत्ता को भलीभॉति पहचानते हैं। उन्होंने अपने नारी पात्रों द्वारा उत्कृष्टतम और आदरास्पद नारी चरित्र प्रस्तुत किया है।

प्रगतिशील समाज के लिए तुलसीदास अज्ञान, अशिक्षा, अन्ध विश्वास, आडम्बर पाखण्ड और रूढ़ि को अवाछित और त्याज्य मानते हैं। अतर्कित रूढ़ियो का वे खण्डन करते हैं। इनके अनुसरण से सामाजिक चेतना कुण्ठित हो जाती है। वे स्पष्ट टिप्पणी करते हैं—'कब कोढ़ी काया लही जग बहराइच जाई'। उनके लिए तो 'विरति विवेक भगति दृढ़ करनी ही' मोहनदी कहँ सुन्दर तरनी है। यह भक्ति निवृत्तिमार्गी व्यक्ति साधना न होकर सामाजिक भूमि पर लोकाराधन का सक्रिय उपक्रम है। गोस्वामी जी वैयक्तिक साधना और सामाजिक चेतना के सम्यक समन्वय मे ही वास्तविक कल्याण की स्थिति देखते हैं। उनका निर्देश है—

> **तुलसी घर-वन बीच ही राम प्रेमपुर छाई।**

गोस्वामी जी के राम विश्वरूप है। जिसके कण-कण मे राम व्याप्त है वह सभी के लिए सुसेव्य है। इसी भावबोध से गोस्वामी जी कहते हैं—

सीयराम मय सग जग जानी। करहु प्रणाम जोरि जुग पानी॥

इस मान्यता के अनुसार ईश्वर अंश जीव स्वयमेव सेव्य और सम्मान्य बन जाता है। सामाजिक शील, सौजन्य, सौहार्द और शान्ति के लिए यह एक प्रभावी महामन्त्र है। यह भक्ति निवृत्ति मूलक और मोक्षलक्षी न होक विश्वरूप राम के चरणों मे अखण्ड अनुराग की आकांक्षिणी है अर्थात् सक्रियत. से लोकाराधन अथवा विश्व मंगल की आराधना का उपक्रम है। इसमे व्यष्टि और समष्टि के यौगिक कल्याण की मगलाकांक्षा है।

सामाजिक ससक्ति के कारण ही गोस्वामी जी ने *जानकी मगल, पार्वती मंगल, रामलला नहछू* जैसी कृतियों को लिखकर सामाजिक सस्कारों और अनुष्ठानो के लिए मांगलिक गीत लिखे। *रामाज्ञाप्रश्न* लिखकर उन्होने लोकविश्वास की पुष्टि के लिए एक सरल और सुगम मार्ग प्रशस्त किया। *वैराग्य सदीपिनी* लिखकर वैराग्य के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट किया। दोहावली में नीति, राजनीति और सदाचार की आचरण सहिताओं को विवेचित किया। *कवितावली* और *गीतावली* मे लोकमानस की विविध भावानुभूतियों की मनोरम झॉकियॉ प्रस्तुत की। *विनय पत्रिका* मे भक्ति के सर्वसुलभ राजमार्ग का दर्शन कराया और रामचरित मानस मे सामाजिक जीवन के प्रत्येक पक्ष को विश्लेपित करके उसके गरिमामय स्वरूप को रेखाकित किया। उन्होने अपने युग के समाज का यथार्थ चित्र खींचकर उसके विकास की दिशाओं का निर्देश किया। राम के आदर्श चरित्र के माध्यम से उन्होंने मानव जीवन के श्रेप्ठतम रूप को सामने रखा और सम्बन्धो के विविध रूपों को परिभाषित किया।

गोस्वामी जी एक ऐसे सुसगठित, सुशिक्षित और सुसस्कृत समाज के आकाक्षी हैं जो सूर्य के समान प्रतापी, वत्सल और उदार शासक अथवा नेता से शासित, शास्त्र सम्मत श्रुति परम्परा ने अनुशासित, मुख के समान विवेकी मुखिया से पालित और उदात्त आदर्शो से सचालित हो। जिसका प्रत्येक नागरिक स्वधर्मनिष्ठ, आस्तिक, कर्त्तव्य परायण, परोपकारी, सम्वेदनशील शीलवान, ऐश्वर्यवान, सदाचारी, प्रबुद्ध और त्रिताप रहित हो। जिसमें व्यक्ति, परिवार समाज और विश्व की मंगल साधना की प्रवृत्ति हो, जिसमें रीति-नीति और प्रीति से पगी न्यायनिष्ठा प्रत्येक अवांछित स्थिति का प्रतिरोध करने में समर्थ हो, जिसमें लौकिक और आध्यात्मिक मूल्यों के व्यावहारिक समन्वय और सामंजस्य की शक्ति हो, जिसमे सम्प्रदाय निरपेक्ष मानवीय चेतना को पहचानने का विवेक हो, जिसमे स्त्री-पुरुष और समाज के

प्रत्येक वर्ग के लोग समान सम्मान के अधिकारी हों, जिसमें लौकिक और आध्यात्मिक क्षेत्र के सामन्वित विकास की सम्भावना हो। इस प्रकार के समाज का प्रत्यक्षरूप कठिन है किन्तु गोस्वामी जैसे महात्मा के लिए इसी प्रकार के आदर्श और परिपूर्ण समाज की कल्पना स्वाभाविक थी। उनका रामराज्य इसी समाज व्यवस्था का उदाहरण है। यह आदर्शसमाज विश्व के किसी भी समाज की आदर्श प्रेरणा बन सकता है।

5

काव्य-कला

गोस्वामी जी ने बलपूर्वक घोषित किया कि वे काव्य-कला से अनभिज्ञ हैं। *रामचरितमानस* में उन्होने घोपित किया–

कवि न होहु नहिं चतुर कहावहु। मति अनुरूप रामगुन गावहु ॥
कवि न होहु नहिं बचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू ॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना ॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा ॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउॅ लिखि कागद कोरे ॥

पार्वती मंगल में भी वे स्पष्ट रूप से कहते है–

कवित रीति नहिं जानउॅ, कवि न कहावउॅ।

ये पंक्तियॉ आपाततः गोस्वामी जी की अतिरेकी विनम्रता का द्योतन करती हैं किन्तु ध्यान से देखने पर स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी अपनी इन्हीं घोषणाओ में काव्य-तत्त्व के गम्भीर ज्ञान का भी परिचित देते हैं। वर्ण, अर्थ, अलंकार, छन्द, प्रबन्ध-विधान, भाव, दस दोप, गुण और रीति जैसे तत्त्वों का वे आख्यान ही नही करते बल्कि किसी के कवि होने के लिए इस तत्त्वों की जानकारी आवश्यक मानते हैं। इन घोपणाओं में दूसरा संकेत यह मिलता है कि कविता के कलात्मक उपादानों की अपेक्षा कवि का स्वानुभूत सत्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। अर्थात् सम्प्रेष्य वस्तु का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। गोस्वामी जी की रचनाओं में विशेष रूप से *रामचरितमानस* में ऐसे अनेक संकेत हैं जिनसे गोस्वामी जी के काव्य-शास्त्र-ज्ञान का प्रामाणिक परिचय मिलता है। उन्होंने कवि, काव्य-विपय, काव्य-वस्तु, कविता की सृजन-प्रक्रिया, रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, काव्य-गुण, रीति आदि पर अपने मत व्यक्त किये हैं। उन्होंने काव्य-कला पर चर्चा करते हुए इस बात पर अवश्य बल दिया है कि कला कला के लिए न होकर जीवन के लिए होनी चाहिये। उसे सुरसरि के समान सबकी कल्याणकारिणी होनी चाहिये।

गोस्वामी जी ने *रामचरितमानस* के आरम्भ में सरस्वती और गणेश की एक साथ वन्दना की है। यह प्रार्थना जहाँ उनकी भक्ति-निष्ठा को प्रमाणित करती है वहीं उनकी काव्य-दृष्टि पर भी प्रकाश डालती है। वे कहते हैं—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि,
मंगलानाम् च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥

वाणी अर्थात् सरस्वती। सरस्वती वाग्देवता हैं, वाक् अर्थात् उक्ति की अधिष्ठात्री शक्ति। विनायक बुद्धि प्रदाता हैं, अर्थात् बुद्धि की अधिष्ठात्री शक्ति के स्वामी। वाक् शक्ति की परिणति उच्चार में होती है और बुद्धि की विचार में। विचार और उच्चार के सम्यक् समन्वय से अभिव्यंजना का जो रूप निर्मित होता है वही काव्य है। वाणी और विनायक ही इस प्रकार के काव्य के कर्त्ता हैं। अर्थात् वाक् शक्ति की प्राजंलता और उसमे निहित महान विचारो की उपस्थिति ही कविता का मानक है।

वाणी और विचार की भव्यता के पॉच घटक तत्त्व हैं जिन्हें काव्य का पंचाग कहा जाता है। गोस्वामी जी उन्हीं का उल्लेख करते हैं। वर्ण, अर्थ सघ, रस, छन्द और मंगल ही उनके अनुसार वास्तविक काव्यांग हैं। काव्य में शब्द और अर्थ के सहभाव की चर्चा की गयी है। किन्तु गोस्वामी जी शब्द के स्थान पर वर्ण की बात कर रहे है। उनकी दृष्टि अधिक सूक्ष्म है। एक तो यह कि वर्णो के सहयोग से ही सार्थक शब्दो की निर्मिति होती है। दूसरे काव्य मे प्रयुक्त होने वाले शब्दों में वर्णो की ध्वनियों का विशेष महत्त्व होता है। वर्ण-विन्यास-कौशल से कविता में चमत्कारिक प्रभाव उत्पन्न होता है। वर्णो के स्वतन्त्र अर्थ भी होते है। ऐसी स्थिति में शब्द की अपेक्षा वर्ण ही काव्य का महत्त्वपूर्ण अंग है।

गोस्वामी जी जिस प्रकार शब्द के स्थान पर वर्ण को प्रतिष्ठित करते हैं उसी प्रकार मात्र अर्थ के स्थान पर अर्थ सघ को महत्त्व देते हैं। पाठक अथवा श्रोता रुचि, संस्कार, ज्ञान, आयु आदि के आधार पर विभिन्न कोटियों और कक्षाओ के होते हैं। सच्चा काव्य वही है जो सभी के लिए आनन्दप्रद हो। गोस्वामी जी के अनुसार कविता को 'बुध विश्राम सकल जन रंजिनि' होना चाहिये। अर्थात् जहाँ विद्वानो को उदात्त भावो और दिव्यज्ञान से आह्लादित करने की अपेक्षा की जाती है वहीं पर सर्वसाधारण के रजन की भी अपेक्षा कविता से की जाती है। गोस्वामी जी उसकी रजकता के साथ उसे 'निज संदेह मोह मद हरनी' भी बनाना चाहते हैं और इसीलिए भक्ति तत्त्व की अनिवार्यता पर बल देते हैं।

गोस्वामी जी के अनुसार सभी रसों का अधिष्ठान है राम के विमल चरित्र का अगाध सरोवर, इसी सरोवर में स्नान करके सरस्वती श्रम श्रान्ति से मुक्त

होकर कवि की काव्य-कला मे लीला-विलास करती है। अर्थात् कवि की रचनात्मक प्रतिभा 'रामचरित सर' में अवगहित होकर आह्लाद्तकारी रस की सृष्टि करती है। इस रस की दिव्यता से पाठक या श्रोता की आत्मा एक ऐसे औदात्य से भर जाती है कि कवि के प्रति शत्रु भाव रखनेवाला भी मुक्त कण्ठ से उसकी रचना की प्रशंसा करने लगता है। गोस्वामी जी ने नौ रसों के अतिरिक्त 'सरल रस' 'ध्यान रस' जैसी मौलिक उद्भावनाये भी की हैं।

गद्य साहित्य में भी काव्य तत्त्व का सन्निवेश सम्भव है। गद्य में छन्द बद्धता नहीं होती किन्तु पद्यबद्ध रचनाओं में छन्दबद्धता का अपना महत्त्व है। छन्दों की सांगीतिक समृद्धि, प्रवाह, लय और ताल आदि की समन्वित शक्ति के प्रभाव से उत्पन्न गेयता के कारण कविता में चुम्बकीय आकर्षण पैदा हो जाता है। अभिव्यक्ति स्वभावतः रसात्मक हो जाती है। इसके अतिरिक्त भावानुकूल छन्द व्यवस्था से प्रभावान्विति में भी विकास होता है। गोस्वामी जी काव्य मे छन्द की अनिवार्यता को स्वीकार नही करते वे इस बात से परिचित है कि गद्य मे भी काव्यात्मक अभिव्यक्ति सम्भव है। इसीलिए 'छन्दासामपि' मे 'अपि' का प्रयोग सोद्देश्य करते हैं। अभिप्राय यह है कि पद्यबद्ध रचनाओं में छन्द की भी अनिवार्यता होती है।

अन्तिम तत्त्व मंगल काव्य का व्यापक एवं सार्वभौमिक तत्त्व है। मगल अथवा व्यापक जन-कल्याण कविता की सार्थकता का प्रमाण है। अपि की भॉति ही मगल के साथ 'च' का प्रयोग भी ध्यातव्य है। 'च' अर्थात् 'और'। 'और' अर्थात् सयोजक तत्त्व। 'च' की व्यंजना यह है कि मंगल तत्त्व गद्य-पद्य दोनों के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। कविता यदि मगल विधायिनी न होगी तो उसका कोई भी प्रभाव न पडेगा। मंगल के महत्त्व को रेखाकित करते हुए गोस्वामी जी स्पष्ट शब्दों मे कहते है–

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुर सरि सम सबकर हित होई॥

रामचरितमानस के बालकाण्ड में गोस्वामी जी ने एक लम्बे सांगरूपक के द्वारा मानस को एक सरोवर के रूप मे चित्रित किया है। सरोवर की उपकारक अथवा शोभाकारक विविध वस्तुओं द्वारा प्रबन्ध काव्य अथवा महाकाव्य के आवश्यक उपकरणो का उल्लेख किया है और *रामचरितमानस* में उनकी उपस्थिति का रेखाकन किया है। इस सन्दर्भ निम्नलिखित कुछ पंक्तियॉ द्रष्टव्य हैं।

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना।
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर वारि अगाधा॥
रामसीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि विलास मनोरम॥

पुरइन सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजुमनि सीप सुहाई॥
छंद सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोई पराग मकरंद सुबासा॥
धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहुभाँती॥
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचार चारु तड़ागा॥
औरउ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहुबरन बिहंगा॥

इस रामचरित सरोवर में ज्ञान के नेत्रों से दृश्यमान सात सोपान हैं, राम की दिव्य महिमा के जल की अथाह गहराई है, राम और सीता के पावन यश के अमृतोपम जल में उपमा बीचियों का मनोरम विलास है, चौपाइयाँ पुरइन के पत्ते की तरह सघनता से फैली है, मंजुल युक्तियाँ सुन्दर मणियों को उत्पन्न करने वाली सीपियाँ हैं, छन्द, सोरठे, दोहे आदि बहुवर्णी कमलो के समान सुशोभित है, अनुपम अर्थ छटाएँ, सुन्दर भाव और सुन्दर भाषा, पराग, मकरन्द और सुगन्ध की भाँति आनन्ददायी हैं। इसमें सत्कर्मो के भ्रमरवृन्द और ज्ञान, वैराग्य तथा उदात्त विचारों के मराल क्रीड़ा करते हैं। ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण और स्वभावोक्ति जैसी काव्यगत विशिष्टतायें सुन्दर मछलियों की भाँति सरोवर की शोभा में वृद्धि करती हैं। नौ रसों का परिपाक, जप, तप, योग और वैराग्य के विविध प्रसग ही इस सरोवर के सुन्दर जलचर जीव है। अन्याय आनुषगिक कथाएँ—तोते कोयल आदि की भाँति रंग-बिरगे पक्षी हैं। आगे गोस्वामी जी कहते है—

बिच बिच कथा विचित्र विभागा। जनु सरि तीर तीर बन बागा।

अर्थात् मूल कथा के बीच में विभिन्न आनुषंगिक कथाओं का नियोजन नदी के किनारे के शोभाकार वन और बाग की भाँति है। मूल कथा के साथ प्रकरी और पताका के नियोजन से दीप्ति और रमणीयता उत्पन्न की गयी है। इसी सन्दर्भ में काव्य के बाधक तत्त्वो का भी उल्लेख किया गया है। इस विवरण से काव्य-वस्तु और काव्य-शिल्प के सम्बन्ध मे गोस्वामी जी के आचार्यत्व का प्रमाण मिलता है।

तुलसीदास ने विभिन्न स्थलों पर कवियों की कोटियो, उनकी विशेषताओं, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-तत्त्व, काव्य-विषय, काव्य-वस्तु, काव्य-निकष, काव्य-सृजन-प्रक्रिया, रस की स्थिति, काव्य-भाषा, शब्द और अर्थ का सहभाव, सहृदय ग्रहीता आदि शास्त्र सम्मत काव्यगत अवधारणाओं पर अपने मत प्रकट किये हैं। अनेक सन्दर्भो में उन्होंने नितान्त व्यावहारिक स्तर पर मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं। इन सभी बातों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि वचन-प्रवीण और कवि न होने की तुलसीदास की घोषणा उनकी अतिरेकी विनम्रता का ही

प्रमाण है। वस्तुतः वे काव्य-कला के निष्णात आचार्य थे।

गोस्वामी जी की काव्य-कला पर विचार करने से पूर्व उनकी काव्य-कलागत अवधारणाओं और काव्य-कला की कसौटियों पर विचार करना उपयोगी होगा। गोस्वामी जी की पहली कसौटी है कविता का गंगा की भाँति लोकोपकारक होना।

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुर सरि सम सबकर हित होई॥

अर्थात् भनिति (कविता) वही सार्थक है जो गंगा की भाँति सब की हितकारिणी हो। गंगा की क्या विशेषता है ? गंगा गंगोत्री की हिमाच्छादि शान्त सुरम्य और दिव्य धवल भूमि से निकलती है। निरवरोध गति से प्रवाहित होती हुई अपने संस्पर्श से सत्-असत्, पाप-पुण्य, जड़-चेतन सभी को निष्कलुष दिव्यता प्रदान करती है, लौकिक समृद्धि और आध्यात्मिक सिद्धि का कारण बनती है। छोटे-मोटे नगण्य नदी-नाले भी उसके सम्पर्क में आकर दिव्य और मंगलमय हो जाते हैं। इतना ही नहीं सुरसरि अपनी शरण में आये प्राणियों के लिए स्वर्ग का द्वार खोल देती है और नदी-नालों को पवित्र करके सागर की अनन्तता से जोड़ देती है। गोस्वामी जी कविता में इसी विलक्षण शक्ति की अपेक्षा करते हैं। वे चाहते हैं कि कविता भी कवि की निर्मल, प्रसन्न, प्रशान्त और उदात्त मनोभूमि से निकलकर अविराम गति और समतामूलक दृष्टि से लोकमंगल का विधान करे और अन्ततः आध्यात्मिक उत्थान की चरम सिद्धि में सहायक बने। आचार्य विश्वनाथ भी मानते है कि काव्य से अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति को भी बिना प्रयास धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यथा–

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यदेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥

गोस्वामी जी की दूसरी कसौटी है विमल यश की सरल अभिव्यक्ति।

सरल कवित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥

जिस कविता में किसी आदर्श व्यक्तित्व की उज्ज्वल कीर्ति का सरल भाषा में बोधगम्य चित्रण किया जाता है उसी कविता का ज्ञानीजन आदर करते हैं। इस प्रकार की कविता का प्रभाव इतना अधिक होता है कि शत्रु भी अपनी शत्रुता को भूलकर उसकी प्रशंसा करते हैं। अन्य प्रकार की कविताएँ आदरणीय नहीं होतीं।

तीसरा मापदण्ड लोक-स्वीकृति का है। जो कविता ज्ञानियों के द्वारा स्वीकार नहीं की जाती, जिसमें जन मानस को आकर्षित करने की शक्ति नहीं होती,

वह कविता समाज में अपना स्थान नही बना पाती। लोकप्रियता रहित कविता लिखनेवाला कवि व्यर्थ का बालहठ करता है। लोकप्रियता अपने आप में श्रेष्ठता की द्योतक है। गोस्वामी जी स्पष्ट शब्दों मे कहते हैं--

जो प्रबंध बुध नहिं आदरही।
सो श्रम बादि बालकवि करहीं ॥

इस सन्दर्भ मे ध्यातव्य है कि लोकप्रिय कविता वही हो सकती है जिसमें पाठक या श्रोता वर्ग को आकर्षित करने की शक्ति हो। यह शक्ति तभी पैदा होती है जब उसकी सम्प्रेष्य वस्तु व्यापक स्तर पर लोकमंगल से सम्बद्ध हो, अभिव्यक्ति सुबोध हो और उसकी प्रभावान्विति पारितोषदायी हो।

गोस्वामी जी की चौथी कसौटी है रामनाम का गान। उनके अनुसार राम नाम कविता का उपकारक तत्त्व है। कुशल कवियों के द्वारा की गयी कविता भी राम नाम से रहित होने पर प्रभावहीन हो जाती है किन्तु सभी अपेक्षित गुणों से रहित कुकवियों की कविता भी राम नाम के संयोग से आकर्षक और आदरास्पद बन जाती है।

सब गुन रहित कुकवि कृत बानी।
रामनाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही।
मधुकर सरिस सन्त गुनग्राही॥

स्मरणीय है कि गोस्वामी जी प्राकृत जन के गुणगान को कवि प्रतिभा का दुरुपयोग मानते है। वे कविता में विमल यश की आवश्यकता को बलपूर्वक रेखांकित करते हैं। वे ऐसे दिव्य और उदात्त लोकोत्तर चरित्र का यश-गान करना चाहते हैं जिससे लोक-परलोक दोनो की सिद्धि हो। मनुष्य के लिए वाणी विधाता का वरिष्ठतम वरदान है। उसका सार्थक उपयोग तो ईश्वर के गुणानुवाद से ही सम्भव है। इसीलिए गोस्वामी जी भक्ति के सन्निवेश और राम नाम के गान को एक कसौटी के रूप मे स्वीकार करते है।

गोस्वामी जी की इन कसौटियों की चर्चा इसलिए आवश्यक प्रतीत हुई कि उनकी रचनायें इन्ही कसौटियो को ध्यान में रखकर लिखी गयी है। उनकी काव्य-कला का सम्पूर्ण विकास इन्हीं कसौटियो से नियन्त्रित और निर्देशित है। इसीलिए कविता अपनी आत्यन्तिक परिणति स्वांतः सुख में करती है और उससे जीवन का वांछित उन्नयन होता है।

कवि-कर्म को गोस्वामी जी एक कठिन साधना मानते हैं। उनके अनुसार कवि ज्ञानियों और विद्वानो से श्रेष्ठ और योगियों की भाँति अनुशासित, निर्लिप्त

और सत्यनिष्ठ होता है। राजशेखर ने भी वाल्मीकि और व्यास को इसीलिए सार्वभौमिक रूप से वन्दनीय माना है। वे कवि और सन्त में भेद नहीं करते। उनके लिए सन्त-कवि कोविद की एक ही कोटि और कक्षा है। वे स्वभावत ऐहिक जीवन में अनुरक्त, मोहग्रस्त, कामी पुरुषों से भिन्न होते है। गोस्वामी जी कहते है–

संत संग अपवर्ग कर कामी भवकर पंथ।
कहहि संत कवि कोविद श्रुति पुराण सद ग्रंथ॥

विनय पत्रिका में कवि को सिद्धों, मुनियो, पडितों और देवताओं के साथ साथ प्रतिष्ठित किया गया है। 'सुर सिद्ध, मुनि कवि कहत कोउ न प्रेम प्रिय रघुवीर सो।' सन्त महिमा का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने कवि को त्रिदेवो की पक्ति में बिठाया है–

विधि हरिहर कवि कोविद बानी।
कहत साधु महिमा सकुचानी॥

रामचरितमानस के अन्त में रामकथा को रचकर मानस मे रखने वाले भगवान शिव को 'सुकविना श्री शंभुना' कहकर सम्बोधित किया गया है। सुकवि की चर्चा हम पहले कर चुके है। कवि की सर्वज्ञता और श्रेष्ठता परम्परानुमोदित है। *अग्निपुराण* में स्पष्ट कहा गया है कि–

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा॥

अर्थात् मनुष्य योनि में जन्म लेना एक दुर्लभ उपलब्धि है। मनुष्य रूप में जन्म लेने पर भी विद्या की प्राप्ति तो और भी दुर्लभ है। कवित्व की प्राप्ति विद्याप्राप्ति से भी कही कठिन है। स्पष्ट है कि विद्वान होने की अपेक्षा कवि होना दुष्कर है। अर्थात् ज्ञाता होने की अपेक्षा स्रष्टा होना निश्चय ही दुर्लभ है। *गीता* मे कवि शब्द का प्रयोग अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति, परम पुरुष और स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के लिए किया गया है। *ईशावास्योपनिषद्* मे आत्मा को कवि, मनीषी, परिभू स्वयंभू कहा गया है। पी.बी. शेली, फिलिप सिडनी, टामस लव पीकॉक, आई.ए. रिचर्ड्स प्रभृति पाश्चात्य विचारकों ने भी कवि की लोकोत्तर प्रतिभा और विधायिनी शक्ति की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

अब यह देखना उचित होगा कि गोस्वामी जी के अनुसार दुर्लभ कवित्व शक्ति की श्रेष्ठता का रहस्य क्या है ? किन विशेषताओं के कारण कविता सुरसरि के समान सर्वान्तःसुखाय बनती है गोस्वामी जी कविता की सृजन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में लिखते हैं–

हृदय सिंधु मति सीप समाना।
स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥
जो बरसइ बर बारि बिचारू।
होहिं कबित मुक्ता मनि चारू॥

हृदय का सम्बन्ध अनुभूति से है। मति का सम्बन्ध मनन अथवा चिन्तन से है। शारदा (सरस्वती) का सम्बन्ध सृजनशील कल्पना से है। सम्वेदनशील अनुभूतिप्रवण हृदय वाले व्यक्ति की चिन्तनशील मति (बुद्धि) में सृजनशील कल्पना के सहारे उत्तम विचारों की वर्षा होती है तब दिव्य आकर्षण से मंडित कविता का जन्म होता है। सिन्धु की सीप में स्वाति जल मूल्यवान मोती बनता है। ध्यातव्य है कि जल-बिन्दु को ठोस आकार, चमक-दमक आदि सीप के परिवेश से ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार श्रेष्ठ काव्य का सृजन तभी सम्भव होता है जब भावबोध और अनुस्मृति में संयुक्त कल्पना के सहयोग से, श्रेयस विचारों का प्रवेश बुद्धि परिसर में होता है और चिन्तन तत्त्व अपने नीर-क्षीर विवेक से विचारों को उदात्त स्वरूप प्रदान करता है। विचारों का उदात्तीकृत रूप ही अनुभूति के आश्रय से श्रेष्ठ काव्य का सृजन करता है। गोस्वामी जी के इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्य-सृजन-प्रक्रिया को केवल कल्पना-प्रसूत अथवा अनायास न मानकर विमल बुद्धि और विवेक सम्मत विचारों से सयुक्त आयासजन्य मानते हैं। इसी प्रकार से निर्मित कविता सज्जनों के गले का हार बन जाती है और व्यापक स्तर पर लोकमंगल का विधान करती है।

गोस्वामी जी के काव्य-कला सम्बन्धी दृष्टिकोण के कतिपय मूलभूत बिन्दुओ की चर्चा के पश्चात उनके काव्य की कलागत उपलब्धियों पर विचार करना समीचीन होगा। इसी दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर संक्षेप में विचार करना अभीष्ट है।

काव्य-रूप

स्थूल रूप से काव्य के दो भेद किये जाते हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध के तीन उपभेद हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य और एकार्थ काव्य। मुक्तक के दो उपभेद है—पाठ्य और गेया। गोस्वामी जी ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनो प्रकार की रचनाओ में अपना कीर्तिमान स्थापित किया है। प्रबन्ध काव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक का उत्कृष्टतम उदाहरण गोस्वामी जी की कृतियों मे प्राप्त होता है। गोस्वामी जी का कीर्ति स्तम्भ *रामचरितमानस* प्रबन्ध काव्य अथवा महाकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। महाकाव्य के लिए प्राचीन आचार्यो ने सर्गबद्धता, ऐतिहासिक वृत्त, अलंकार योजना, छन्द वैविध्य, अर्थ गाम्भीर्य, भाषा सौष्ठव, भाव सौन्दर्य, काव्य तत्त्वों की

समाहिति, पुरुषार्थचतुष्टय की उपस्थिति, पारलौकिक ज्ञान-विवेचन, रस योजना, आनुषंगिक कथाओं का सम्यक समावेश आदि को आवश्यक माना है। यदि इस दृष्टि से गोस्वामी जी के *रामचरितमानस* को देखा जाये तो उपर्युक्त सभी बातों का न केवल उत्तम निर्वाह हुआ है बल्कि इन तत्त्वों को नूतन उपलब्धियों से मण्डित भी किया गया है। भामह, दण्डी, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यो ने महाकाव्य के जिन लक्षणों का उल्लेख किया है उन सभी का उत्कृष्ट उदाहरण *रामचरितमानस* में उपलब्ध है।

'मानस' की कथा के नायक मर्यादा पुरुषोत्तम राम धीरोदात्त कोटि के नायक हैं। इसकी कथावस्तु इतिहाद्भूत एवं महापुरुष के जीवन पर आधारित है, महाकाव्य के सर्गो की संख्या के सम्बन्ध में केवल आचार्य विश्वनाथ ने यह निर्देश किया है कि महाकाव्य में सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिये। अन्य आचार्यो ने इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं किया है। गोस्वामी जी के मानस में केवल सात सर्ग हैं किन्तु सात ही सर्ग होने पर भी उसका प्रबन्धत्व अथवा महाकाव्यत्व हर दृष्टि से परिपूर्ण है। प्रसंगो के अनुकूल अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग मानस में किया गया है। हिन्दी और संस्कृत दोनो भाषाओं के लोकप्रिय छन्दों का अत्यन्त परिमार्जित रूप 'मानस' मे विद्यमान है। अनेक मार्मिक प्रसंगों की हृदयग्राही अनुभूतियों की भावानुगामिनी प्रांजल भाषा में अनूठी अभिव्यंजना की गयी है। नगर, ग्राम, पर्वत, समुद्र, वन, बाग नदी तालाब, ऋतुएँ, सूर्योदय, ज्योत्सना आदि का मोहक चित्रण यथा स्थान अपनी पूर्ण समृद्धि के साथ व्यक्त हुआ है। अलंकारों की योजना अत्यन्त स्वाभाविक और चित्ताकर्षक है। महाकाव्य में एक अंगी और अन्य अंगभूत रसों की आवश्यकता पर बल दिया गया है। अंगी रसों के लिए शृंगार, वीर और शांत रसों के महत्त्व को रेखांकित किया गया है। 'मानस' में इन तीनों प्रधान रसों का पूर्ण परिपाक देखने को मिलता है। शान्त रस के अंगीरस होने पर भी वीर और शृंगार रसों की विलक्षण सिद्धि हुई है। अन्य अंगी रसों का भी प्रभावी उपयोग किया गया है। ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण, जाति आदि तत्त्व भी 'मानस' की श्रीबुद्धि में सहायक हैं। मूल कथा के साथ अनेक प्रकरी-पताकाओं का सुन्दर समावेश प्रबन्ध की सरसता, रोचकता और प्रभावात्मकता में वृद्धि करता है। पुरुषार्थ चतुष्टय और ज्ञान-विज्ञान की चर्चा की घोषणा तो स्वयं तुलसीदास ने की है। चरित्रों का विकास नितान्त मनोवैज्ञानिक है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र तो अपने नरत्व और नारायणत्व के मणि-कांचन योग से भक्ति का अद्भुत आलंबन बन गया है। विषयवस्तु भावसमृद्धि और कलात्मक अभिव्यंजन-कौशल से 'रामचरित मानस' न केवल महाकाव्य की

आवश्यक शर्तों को पूरा करता है अपितु उसके उत्कृष्टतम रूप का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है।

खण्ड काव्य में प्रबन्धात्मक तत्त्व रहता है। इसमे भी कथा-तत्व की अनिवार्यता रहती है किन्तु महाकाव्य की भॉति खण्ड काव्य मे कथानक की पूर्णता अथवा उद्देश्य की महनीयता अनिवार्य नहीं होती। खण्ड-काव्य की घटना काल्पनिक भी हो सकती है। गोस्वामी जी की *रामलला नहछू, जानकी मंगल* और *पार्वती मंगल* कृतियॉ खण्ड काव्य के अन्तर्गत आती हैं। *रामलला नहछू* मे राम के यज्ञोपवीत संस्कारका वर्णन है। *जानकी मंगल* मे राम-सीता के विवाह का वर्णन है। *पार्वती मगल* मे शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है। इन खण्ड काव्यों मे तत्कालीन लोक जीवन, लोक संस्कृति और गार्हस्थ्य जीवन की अनूठी अभिव्यंजना हुई है। इन खण्ड काव्यों का उद्देश्य जहाँ इन घटनाओं की मनोरंजक झाँकी प्रस्तुत करना था वही पर लोकरुचि के परिष्कार और नूतन संस्कार का भी था।

मुक्तक काव्य में सूत्रबद्ध कथा तत्त्व की आवश्यकता नहीं रहती। मुक्तक पूर्वापर सम्बन्ध से मुक्त और अपने आप में पूर्ण होता है। अभिनव गुप्त के अनुसार, 'पूर्वापर-निरपेक्षापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।' अर्थात् पूर्वापर सम्बन्धों से निरपेक्ष रहकर भी रसास्वाद प्रदान करने वाले काव्य को मुक्तक कहते हैं। मुक्तक की रचना करने वाला कवि अपने विशिष्ट कौशल से रस के विविध अवयवो को मुक्तक की सीमित परिधि में समन्वित करता है और व्यंजना-व्यापार से पाठक या श्रोता में तीव्र और मार्मिक अनुभूति जागृत करता है। प्रबंधकार को अनेका प्रकार के नियमों, निर्देशों, विधि-निषेधो का ध्यान रखना पड़ता है किन्तु मुक्तकार अपनी भावानुभूति को मुक्तभाव से प्रस्तुत करता है। अनेक बार मुक्तकों का प्रभाव इतना तीव्र और प्रभावी होता है कि जीवनभर अमिट बना रहता है। गोस्वामी जी की *दोहावली, कवितावली, गीतावली, कृष्ण गीतावली, बरवै रामायण, विनयपत्रिका* जैसी रचनाएँ मुक्तक काव्य का अन्यतम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। गोस्वामी जी की मुक्तक रचनाओं के सम्बन्ध मे ध्यातव्य है कि उनके मुक्तक काव्य-लालित्य से हीन होने पर भी धार्मिक, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो और प्रांजल अभिव्यक्ति के कारण सामान्य जनता के लिए अत्यन्त श्लाघ्य बन गये हैं। दूसरी बात यह ध्यान देने योग्य है कि गोस्वामी जी के मुक्तकों में भी कथा तत्त्व का निर्वाह हुआ है। प्रसंग बद्धता के कारण स्वभावतः इन मुक्तकों में वस्तुनिष्ठता आ गयी है। केवल *विनयपत्रिका* और *कवितावली* के उत्तर काण्ड में ही गोस्वामी जी के आत्मनिवेदन को देखा जा सकता है। किन्तु ये कर्तृ प्रधान आत्माभिव्यंजक रचनाएँ भी अपने आप में एक उदाहरण हैं।

इस सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी काव्य के प्रबन्ध और मुक्तक रूपों पर पूर्ण अधिकार रखते थे। महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक के रूप में लिखी गयी उनकी कृतियाँ इन काव्य-रूपों का अन्यतम उदाहरण प्रस्तुत करती है। उन्होंने इन काव्य-रूपों में न केवल परम्परा का निर्वाह किया है अपितु अपनी विलक्षण सृजनशील प्रतिभा से इन्हें नूतन सम्भावनाओ से समृद्ध और मंडित भी किया है।

भाषा सौष्ठव

सामान्य रूप से प्रचलित शब्दो का प्रयोग करने पर भी अर्थ के स्तर पर काव्य-भाषा भिन्न हो जाती है। समाचार-पत्रों, राजनीतिज्ञों अथवा जन साधारण द्वारा प्रयुक्त भाषा काव्य के लिए अपर्याप्त होती है। दान्ते के अनुसार कवि के लिए श्रेष्ठ भाषा का वही महत्त्व है जो सैनिक के लिए श्रेष्ठ अश्व का। कवि जिस काल में लिख रहा होता है उस काल में प्रचलित भाषा का सामर्थ्य और कवि का उस पर अधिकार काव्य-भाषा के निर्माण में कारणीभूत होता है। भाषा के मर्म का ज्ञान और उसका विशिष्ट प्रयोग कविता को अनन्त अर्थसम्भवा बना देता है। प्रयोग विधि की विशेषता से ही कविता में लालित्य और रसात्मकता का निर्माण होता है। गोस्वामी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'कविहिं अरथ आखर बल साँचा।'

गोस्वामी जी संस्कृत भाषा के पारंगत पंडित थे। शौरसेनी और अर्द्धमागधी प्राकृतों पर उनका समान अधिकार था। अवधी और ब्रजभाषा के सूक्ष्म ज्ञान का पुष्ट प्रमाण उनकी कृतियों में उपलब्ध है। अवधी और ब्रजभाषा की विभाषाओं और बोलियों के शब्दों का भी उन्होंने प्रचुरता से प्रयोग किया है। अरबी और फारसी के भी असंख्य प्रचलित शब्द उनकी कृतियों में उपलब्ध हैं। परिनिष्ठित शब्दावली के साथ ही जन बोलियों में प्रचलित ठेठ देशज शब्दों का गोस्वामी जी ने प्रचुरता से प्रयोग किया है। गोस्वामी जी का शब्दकोश अत्यन्त विशाल और व्यापक है। किन्तु शब्द-ज्ञान की अपेक्षा उनका प्रयोग कौशल कहीं अधिक भावाभिव्यंजक है। प्रसंगों, पात्रों और भावो के अनुकूल शब्दों का ऐसा सटीक और स्वाभाविक प्रयोग अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत के शुद्ध तत्समरूपों से लेकर बोलियों के ठेठ शब्दों तक का प्रयोग गोस्वामी जी ने किया है किन्तु किसी भी स्थल पर ये शब्द न तो सायास आरोपित लगते हैं और न ही अनुचित बल्कि अपनी स्वाभाविकता के कारण उनमें अपूर्व अर्थगर्भता और प्रभावान्विति भर गयी है। 'अर्थ अमित अति आखर थोरे' की उक्ति गोस्वामी जी की रचनाओं पर

पूरी तरह लागू होती है।

गोस्वामी जी ने जहाँ संस्कृत की प्रचलित शब्दावली के प्रयोग से ब्रज और अवधी भाषाओं को सुसंस्कारित स्वरूप प्रदान किया वहीं पर बोलियों के शब्दों को औदात्य से मंडित किया। गोस्वामी जी की कृतियों में अवधी और ब्रजभाषा का जो निखरा हुआ रूप मिलता है वह अन्य किसी भी कवि की भाषा में उपलब्ध नहीं है। विदेशी शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में लक्षणीय विशेषता यह है कि अरबी-फारसी के शब्दों को गोस्वामी जी ने हिन्दी व्याकरण के अनुसार परिवर्तित कर लिया, साथ ही व्याकरण और ध्वनियों के अपने विशिष्ट प्रयोग से विदेशी शब्दों को हिन्दी का सजातीय बना दिया।

शब्दों की सार्थकता वाक्य के विशिष्ट सन्दर्भ में ही सिद्ध होती है। कवि का व्यक्तिवेद्य यदि स्वाभाविक रूप से सर्वजनसंवेद्य बन सके तभी शब्दों की मूल्यवत्ता सिद्ध होती है। गोस्वामी जी की सुव्यवस्थित और कलात्मक वाक्य रचना की प्रशंसा करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"और कवियों के साथ तो तुलसीदास का मिलान ही क्या वाक्य दोष हिन्दी में भी हो सकते हैं, इसका ध्यान तो बहुत कम लोगों को रहा। सूरदास भी इस बात में तुलसी से बहुत दूर है।" वाक्य रचना कौशल और वर्ण विन्यास चातुरी का ही परिणाम है कि 'सब कर मत सगनायक एहा' जैसी साधारण पंक्ति में भी बाबूराम युक्ति विशारद जी ने 1675 186 अर्थो का संधान कर लिया। यह कल्पनातीत अर्थ सम्पदा शब्द-स्थापन की विशिष्ट सिद्धि के कारण ही सम्भव हुई। उनके भाषा-प्रयोग-कौशल के कारण संस्कृत, परिनिष्ठित हिन्दी और बोल-चाल की ठेठ शब्दावली अपनी श्रुति मधुरता और अर्थगर्भता के कारण समान रूप से विलोभनीय लगती है। ' नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये सत्यं बदामि च भवानखिलांत रात्मा।' 'सीतारामगुणग्राम-पुण्यारण्यविहारणौ' जैसी संस्कृत शब्दावली, 'भव भव विभव पराभव कारिनि। विश्व बिमोहनि स्वबस बिहारिनि ॥' अथवा 'नव रसाल बन बिहर शीला' जैसी परिनिष्ठित शब्दावली अथवा 'पानि कठौता भरि लै आवा।' 'आजु दीन्हि विधि बनि भलि' पूरी जैसी ठेठ शब्दावली में प्रसंग, पात्र और संप्रेष्य वस्तु की अभिव्यक्ति समान रूप से स्वाभाविक और प्रभावी है।

मुहावरों और कहावतों अथवा लोकोक्तियों का प्रयोग अभिव्यक्ति की चारूता और प्रभावक्षमता में वृद्धि करता है। मुहावरों और कहावतों का उद्‌गम स्थल लोक भाषा है। लोकजीवन के अनुभव सिद्ध यथार्थ की अभिव्यक्ति मुहावरों और कहावतों में होती है इसलिए उनका वास्तविक चारुत्व लोक भाषा में ही रक्षित रहता है। गोस्वामी जी की कृतियों में असंख्य मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रभावपूर्ण प्रयोग

हुआ है– 'रेख खँचाइ कहउँ बलु भाखी। भामिनि भइहु दूध कइ भाखी ॥' जैसे असंख्य मुहावरों और "जस काछिय तस नाचिय नाचा" "निजकृत कर्मभोग सब भ्राता" मोहिं तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो" धोबी कैसो कूकर न घर को न घाट को" इस प्रकार के विपुल सार्थक प्रयोगों द्वारा जहाँ भाषा की चारुता और प्रभावान्विति समृद्ध हुई है वहीं गोस्वामी जी की लोक संस्कृति, लोक जीवन और लोक़ मन की सूक्ष्म परख और लोकसंसक्ति भी प्रमाणित हुई है। गोस्वामी जी की भाषागत विलक्षणता इस बात में है कि विद्वान, अनपढ़ विभिन्न कोटियों और कक्षाओं के लोग, परस्पर विरोधी मतों के लोग, विभिन्न आयु और मानसिकता के लोग अपनी-अपनी आकांक्षाओं और विश्वासों के अनुकूल अर्थ का संधान कर लेते हैं सभी के मन में गोस्वामी जी के प्रति आदर और अनुराग का भाव उत्पन्न होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गोस्वामी जी की भाषा पर अपना मत प्रकट करते हुए कहा है–"सबसे बड़ी विशेषता गोस्वामी जी की है भाषा की सफाई और वाक्य रचना की निर्दोषता जो हिन्दी के और किसी कवि में ऐसी नहीं पायी जाती।" गोस्वामी जी ने अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं का उत्कृष्टतम रूप प्रस्तुत किया है।

छन्द-विधान

भामह, दण्डी, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यो ने छन्दों के महत्त्व को बलपूर्वक रेखांकित किया है। मात्राओं गणों, वर्णो, निर्देशानुसार लघु और गुरु की सुनिश्चित योजना से छन्द का विधान किया जाता है। छन्दबद्ध हो जाने पर अभिव्यक्ति में श्रवण सुखदता और सांगीतिक सौन्दर्य पैदा हो जाता है। ताल, लय और प्रवाह के सम्यक योग से अभिव्यक्ति में सरसता आ जाती है। किन्तु इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि शास्त्रों में निर्देशित नियमों के आधार पर छन्द की रचना कर लेना एक बात है और भावों तथा प्रसंगों के अनुसार स्वतः स्फूर्त प्राकृतिक संगीत का सहज प्रवाह दूसरी बात है। सिद्ध कवि की वाणी में लय, ताल, नाद, यति, गति का नियमन तथा कर्णगोचर संगीत का निनाद भावबोध की तीव्रता के सहज परिणाम के रूप में आता है। गोस्वामी जी की कृतियों में उदात्त छन्दों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक, प्रभावपूर्ण और विविधता के साथ हुआ है। गोस्वामी जी ने अपने समय में प्रचलित प्रायः सभी छन्दों का सफल विधान किया है। संस्कृत और हिन्दी के शास्त्र सम्मत छन्दों के अतिरिक्त उन्होंने लोकगीतों को आधार बनाकर सोहर जैसे छन्दों को भी अपनी विधायिनी शक्ति से धन्य कर दिया है। उनके सभी छन्द प्रसंगानुकूल और उदात्त रचना के अनुकूल हैं।

महाकाव्य में छन्दों की विविधता, श्रुतिमधुरता और छन्द परिवर्तन पर बल दिया गया है। *अग्निपुराण* में एवं आचार्य विश्वनाथ द्वारा छन्दों के वैविध्य को आवश्यक माना गया है। गोस्वामी जी ने अपने महाकाव्य रामचरित मानस में दोहा, चौपाई, सोरठा, तोमर, चौबोला, हरिगीतिका, प्रमाणिका, तोटक, पद्मावती, भुजंगप्रयात जैसे हिन्दी के प्रचलित छन्दों के साथ अनुष्टुप, वंशस्थ वसन्त तिलका, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, मालिनी जैसे संस्कृत छन्दों का भी सफल विधान किया है। *कवितावली* में घनाक्षरी, छप्पय, मनहर और मनहरण छन्दों का समावेश है। *पार्वती मंगल* और *जानकी मंगल* में हरिगीतिका और मात्रिक अरुण छन्द है। *वरबैरामायण* का तो नामकरण ही बरवै छन्द के नाम पर किया गया है। दोहावली में दोहों और सोरठों का प्रयोग किया गया है। *वैराग्यसंदीपिनी* दोहों, सोरठों और चौपाइयों में रचित है। *रामललानहछू* सोहर छन्द में है। *गीतावली, विनयपत्रिका* और *कृष्ण गीतावली* की रचना विभिन्न राग रागिनियों पर आधारित पदों में की गयी है। मात्राओं को घटा-बढ़ाकर गोस्वामी जी ने स्वरुचि के अनुसार नये छन्दों का भी विधान किया है। ध्यान रहे कि गोस्वामी जी की कृतियों में जिस प्रकार छन्दों की मात्रात्मक विपुलता है उसी अनुपात में कलात्मक सौष्ठव की सिद्धि और भावगत उदात्तता भी चूड़ान्त है।

शब्द शक्ति

शब्द शक्ति अर्थात शब्द की अर्थ-निष्पादन-क्षमता। शब्द शक्ति के अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीन रूप माने गये हैं। इन्हीं के सफल और सार्थक उपयोग से अभिव्यक्ति को सफल बनाया जाता है। अभिधा वाचक शब्दों के अर्थबोध की प्रथमा शक्ति है। इसके द्वारा रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ वाचक शब्दों का अर्थ बोध होता है। काव्य में वाच्यार्थ को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है किन्तु प्रतिभाशाली कवि अभिधा के सही मर्म को पहचानकर जब उसका औचित्यपूर्ण प्रयोग करता है तो अभिधेयार्थ में आकर्षण, चमत्कृति और दीप्ति पैदा हो जाती है। गोस्वामी जी की सभी कृतियों में रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ वाचकों का बहुलता से उपयोग हुआ है और उनसे अभिप्रेत अभिव्यक्ति की प्रासादिक प्राजंलता तथा भाव प्रकाशन में अद्भुत सिद्धि मिली है। गोस्वामी जी की कृतियों में अभिधा शक्ति का इतना बहुल प्रयोग है कि उसका उदाहरण देना अनावश्यक है।

लक्षणा शक्ति का प्रयोग सुन्दरता, व्यापकता और व्यंजकता की वृद्धि के लिए किया जाता है। जिन भावों अथवा विचारों को अभिधा के माध्यम से व्यक्त करना सम्भव नहीं होता उनके लिए सादृश्य अथवा साधर्म्य के आधार पर कवि

लाक्षणिक अभिव्यक्ति की योजना करता है। इससे अभिव्यक्ति में सुचारु सम्प्रेषणीयता उत्पन्न होती है। गोस्वामी जी की कृतियों में लक्षणा के विविध प्रकारों का चूड़ान्त सफलता के साथ उपयोग हुआ है। लाक्षणिक प्रयोग का एक उदाहरण देखिये—

सुनि विलाप दुख हूँ दुख लागा।
धीरजकर हू कर धीरज भागा॥

सामान्य स्थिति में दुख को दुख लगने और धैर्य का धैय छूटने की स्थिति अस्वाभाविक है। किन्तु वास्तविक संकेत तो यह है कि विलाप की करुणा इतनी मर्मस्पर्शी और हृदय-विदारक है कि स्वयं दुख भी दुखी होने लगा और धैर्य का धीरज जवाब देने लगा। दुख और धैर्य के मूर्तन से भावों को स्पष्ट करने और गम्भीर बनाने में अद्भुत सफलता मिली है। वाच्यार्थ के परे लक्ष्यार्थ ही यहाँ अभिप्रेत है। गोस्वामी जी द्वारा प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों में रूढ़ि और प्रयोजन लक्षणाओं के असंख्य उदाहरण मिलते हैं।

कविता में अभिधा से श्रेष्ठ स्थान लक्षणा का है और लक्षणा से श्रेष्ठ स्थान व्यंजना का। अभिधा और लक्षणा की असमर्थता में व्यंजना का प्रयोग किया जाता है। इसमें प्रतीयमान अर्थ कथित अथवा लक्षित न होकर व्यंग्यरूप में ध्वनित होता है। आचार्यो ने व्यंग्य अथवा व्यंजना प्रधान काव्य को श्रेष्ठ काव्य माना है। गोस्वामी जी की कृतियों में व्यंग्यार्थ प्रकाशन के उत्कृष्टतम उदाहरण प्राप्त होते हैं। ध्वन्यार्थ की एक विशेषता यह भी होती है उसमें ध्वनित अर्थो के वलय बनते जाते हैं और इस प्रकार कविता अनन्त अर्थ सम्भवा बन जाती है। सफल व्यंजना-व्यापार का निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है—

नील सरोरुह नील मनि, नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु शोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम॥

यह प्रसंग उस समय का है जब मनु-सतरूपा के घोर तप से प्रसन्न होकर भगवान विष्णु उनके सम्मुख प्रकट हुए। उन्हीं की लोकोत्तर शोभा का यह वर्णन है। सहसा देखने पर लगता है कि एक ही वस्तु के लिए तीन-तीन उपमाओं का प्रयोग पुनरुक्ति दोष है। किन्तु उसमें निगूढ़ व्यंजना-व्यापार पर ध्यान देने पर विलक्षण अर्थ समृद्धि का बोध होता है। नील सरोरुह, नील मनि, नील नीर धर इन तीन उपमाओं के माध्यम से भगवान विष्णु की बहुकोणीय पूर्णताओं को उद्घाटित किया गया है। भौतिक स्तर पर ये उपमाएँ जल-थल और आकाश की सर्वोत्कृष्ट और सुन्दरतम वस्तुएँ है। आधिदैविक स्तर पर सरोरूह कमलोद्भूत ब्रह्मा का, मनि कौस्तुभधारी विष्णु का और नीरधर गंगाधर शिव का चिह्न है। आध्यात्मिक दृष्टि से सरोरूह

सृष्टि और ऐश्वर्य के उद्भावक सत् की, मनि प्रकाशधर्मी चित् का और नीरधर रसमय आनन्द का प्रतीक है। इस प्रकार भौतिक, दैविक आध्यात्मिक तीनों स्तरों पर आराध्य विष्णु की परिपूर्णता का द्योतन किया गया है और समाहार 'स्याम' में करके आकाश की अनन्तता और समुद्र की गम्भीरता के साथ ही अवर्णता में दृश्यमान वर्ण का आरोप किया गया है। यदि साधन की पूर्णता की दृष्टि से विचार करें तो सरोरूह कर्म का, मनि ज्ञान का और नीरधर भक्ति का प्रतीक है। इस प्रकार इन तीन शब्दों में निहित व्यंजना शक्ति अर्थ की असंख्य परतों को लपेटे हुए है।

गोस्वामी जी की सभी कृतियों में व्यंजना के विविध प्रकारों का सार्थक उपयोग मिलता है। चित्रकूट की सभा में भरत के निवेदन को 'अरथ अमित अति आखर थोरे' कहा गया है। गोस्वामी जी की कृतियों में यह वैशिष्ट्य सर्वत्र देखा जा सकता है। सम्वादों, दृष्टान्तों, उक्तियों, संकेतों, भावातिरेकों, आदि के अभिव्यंजन में गोस्वामी जी ने व्यंजना शक्ति का प्रचुरता से उपयोग किया है। अनेक स्थलों पर तो मौन अथवा अभिव्यक्ति की असमर्थता को भी असीम व्यंजकता प्रदान कर दी गयी है।

अलंकार-योजना

अलंकार काव्य का उपकारक तत्त्व है। इसके समुचित प्रयोग से भावोत्कर्ष और वस्तुनिरूपण में सहायता मिलती है। अलंकारवादी तो यहाँ तक कहते हैं कि जो अलंकार विहीन शब्द और अर्थ को स्वीकार करता है वह अग्नि को उष्णता विहीन क्यों नहीं मानता।

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थवनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्यादनुष्णमनलं कृती॥

किन्तु अलंकार काव्य का शोभाकारक होकर भी उसका नित्य धर्म नहीं है। काव्य-लक्षण-निरूपण करते हुए आचार्य मम्मट लिखते हैं—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

अर्थात् दोषों से मुक्त, गुणों से युक्त, सामान्यतः अलंकार सहित, कहीं-कहीं अलंकार रहित शब्द-अर्थ का समवाय काव्य है। आचार्य मम्मट का मत सर्वथा युक्तियुक्त है। गोस्वामी जी इसी मत का समर्थन करते हैं। रामचरितमानस में गोस्वामी जी काव्य में अलंकार की स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

राम सीय जस सलिल सुधा सम॥
उपमा बीचि विलास मनोरम॥

राम और सीता के यश रूपी सुधा-सागर में उपमा वीबियों का मनोरम विलास विद्यमान है। लहरों से जल की शोभा बढ़ती है और किसी जलराशि में लहरें स्वाभाविक रूप से उठती भी है। किन्तु लहरें सदैव बनी रहें यह स्वाभाविक नहीं है। अर्थात् अलंकार शोभाकारक होने पर भी नित्य धर्म नहीं है। यह भी ध्यातव्य है कि गोस्वामी जी 'उपमा' शब्द का प्रयोग अलंकार विशेष के लिए प्रयुक्त नहीं कर रहे हैं, उपमा से उनका अभिप्राय सम्पूर्ण अलंकार से है। उपमा अलंकार सभी अलंकार का द्योतन करता है। गोस्वामी जी की उक्ति से एक दूसरी बात भी स्पष्ट होती है। कि जिस प्रकार से जल राशि में स्वाभाविक रूप से वीचियों का विलास होता है और जलाशय की शोभा में वृद्धि होती है उसी प्रकार काव्य में अलंकारों की योजना सायास नहीं, स्वाभाविक होनी चाहिये। गोस्वामी जी की कृतियों में अलंकार की यही स्थिति सर्वत्र द्रष्टव्य है। उनकी कृतियों में शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार तथा उनके भेदों-प्रभेदों का अत्यन्त स्वाभाविक एवं प्रभावी प्रयोग किया गया है।

शब्दालंकार का साग्रह प्रयोग काव्य की भाव सत्ता की हानि करता है। साथ ही उसमें भावोत्कर्ष के स्थान पर बौद्धिक कौशल और तत्परता की प्रधानता होती है। गोस्वामी जी की प्रकृति कला की आग्रही नहीं थी। वे उदात्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए कविता को साधन रूप में स्वीकार करते थे इसलिए शब्दालंकार पर उनका ध्यान बहुत कम था। किन्तु उनकी कृतियों मे अनुप्रासादि का अत्यन्त स्वाभाविक और चमत्कारिक स्वरूप स्वयमेव प्रस्तुत हो गया है। 'चितवति चकित चहूँदिसि सीता' अथवा 'सावकास सुनि सग सिय सासू' जैसी पंक्तियों में अनुप्रास की मनोरम छटा अनेक स्थलों पर देखने को मिलती है।

अर्थालंकार का कोई भी भेद या प्रभेद नहीं है जिसका प्रयोग गोस्वामी जी ने न किया हो। साधर्म्यमूलक अलकारों में रूपक, परिणाम, भ्रान्तिमान, सन्देह, अपन्हुति, उल्लेख जैसे अभेद प्रधान, तुल्योगिता, निदर्शना, दृष्टान्त, दीपक सहोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, प्रतीप, व्यतिरेक जैसे भेद-प्रधान और उपमा, अनन्वय, स्मरण आदि भेदाभेद प्रधान अलंकारों का प्रयोग गोस्वामी जी ने बड़ी ही स्वाभाविकता और कलात्मक सिद्धि के साथ किया है। अलंकारों के भेदों प्रभेदों का विश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं है। संकेत रूप में कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

रूपक गोस्वामी जी का प्रिय अलंकार है। रूपकों की योजना में उन्हें विलक्षण सिद्धि प्राप्त है। छोटे-छोटे रूपकों के अतिरिक्त विस्तृत सांगरूपकों में भी उन्होंने साधर्म्य और सादृश्य का अद्भुत निर्वाह किया है। इस प्रकार के सुदीर्घ सांगरूपकों की योजना गम्भीर विषय को बोधगम्य बनाने और उसमें चारुत्व का सन्निवेश

करने के उद्देश्य से की गयी है। लंका युद्ध के समय रावण से युद्ध करने के लिए तत्पर राम को कवच, पदत्राण और रथविहीन देखकर विभीषण व्याकुल हो गये। उनका समाधान प्रस्तुत करते हुए राम कहते हैं—

सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज जेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल विवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म सन्तोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर विज्ञान कठिन कोदण्डा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद विप्र गुर पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥

विजय रथ का यह सांगरूपक सादृश्य और साधर्म्य के पूर्ण निर्वाह के साथ सहजता, बोधगम्यता और प्रभविष्णुता में भी अनुपमेय है। इस प्रकार के सुदीर्घ सांगरूप *रामचरितमानस, विनय पत्रिका* और *गीतावली* जैसी कृतियों में अधिसंख्य रूप से मिलते हैं। इसी प्रकार अभेद प्रधान कोटि के अन्य अलंकारों के असंख्य उदाहरण गोस्वामी जी की कृतियो में उपलब्ध हैं।

भेदाभेद कोटि में उपमा अलंकार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सौन्दर्य अथवा दृश्य के चित्रण में इस अलंकार का महत्त्वपूर्ण उपयोग होता है। गोस्वामी जी ने उपमा को प्रतिनिधि अलंकार के रूप में प्रतिष्ठित किया और उसे काव्य-सलिल की शोभाकारक विलास-बीचि कहा है। उनकी सभी कृतियों में मनोहर उपमाओं की मोहक छटा स्थान-स्थान पर जगमगाती दिखायी पड़ती है। पारम्परिक उपमाओं के कुशल संयोजन के साथ गोस्वामी जी ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और अनुभूति के आधार पर अनेक सर्वथा नूतन उपमाओं की भी उद्‌भावना की है। यथा—

जनक बचन भये बिरवा लजारू केसे
बीर रहे सकल सकुचि सिर नाइ के।

भेद प्रधान अलकारों में दो वस्तुओं के स्वतंत्र अस्तित्व समेकित करके उनके कार्य-कारण सम्बन्ध को उद्‌घाटित किया जाता है। 'कुनुगुरिया कई मुँदरी कँगना होइ' अथवा 'जे जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहि पय लागी॥' जैसी पंक्तियों में अल्पनिदर्शना जैसे अलंकारों का मार्मिक प्रयोग देखा जा सकता है।

उभयालंकार में शब्दालंकार और अर्थालकार की संसृष्टि अथवा उनका संकर प्रयोग होता है। इसलिए दोनों की विशेषताएँ उसमें समिश्र हो जाती हैं। गोस्वामी

जी ने उभयालंकार का भी सफल प्रयोग किया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

सुनि मृदु वचन मनोहर पिय के।
लोचन नलिन भरे जल सिय के॥

उक्त उद्धरण में न, ल, भ वर्णो की आवृत्ति से अनुप्रास की योजना की गयी है। लोचन नलिन उपमा और रूपक का समिश्र प्रयोग है। कार्यरूप लोचन नलिन से कारण रूप दुःख का निर्देश किया गया है। इससे अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार की सम्भावना बन जाती है। इस स्थिति में जो अनिर्णय घटित होता है। उसी से यहाँ पर उभयालंकार की स्थिति उत्पन्न होती है।

गोस्वामी जी की अलंकार योजना की विशिष्टता और चरम सफलता को रेखांकित करने के लिए मिश्र बन्धुओं ने निम्नलिखित चार पक्तियों में तेरह अलंकारों की गणना की।

जे पुर गाँव बसहि मग मॉही। तिन्हहिं नाग सुर नगर सिहाहीं॥
केहि सुकृती केहि घरी बसाए। धन्य पुन्य सम परम सुहाए॥
जहँ जहँ रामचरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥
पुण्य पुंज मग निकट निवासी। तिन्हहिं सराहहिं सुर पुर वासी॥

मिश्र बन्धुओ ने इन पंक्तियों को समस्त विश्व के साहित्य-सार में सर्वोत्कृष्ट और अन्यतम माना है। इन्हीं पंक्तियों में सम्बन्धातिशयोक्ति अर्थान्तरन्यास, सार, पदार्थ वृत्ति दीपक, काकु, उदात्त, वृत्यनुप्रास, वीप्सा, चतुर्थ प्रतीप, अधिक अभेदरूप, समुच्चय, बिक स्वर, अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे तेरह अलंकारों का निर्देश किया है। इसी के साथ इन्ही दो छन्दों में उन लोगों ने सात गुणों का भी रेखांकन किया है। इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी अलंकार शास्त्र मे पूर्णतया निष्णात थे और अपनी रचनाओं में उन्होंने अलंकारों का अत्यन्त सार्थक उपयोग किया है। किन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि गोस्वामी जी के लिए अलंकार कभी साध्य नहीं रहा। वह भावोत्कर्ष अथवा रूप, गुण, क्रिया आदि के अनुभव को प्रखर बनाने के लिए ध्येय धर्मिता के आग्रह पर ही प्रस्तुत हुआ है।

रस सिद्धि

रस बहुआयामी और बहुअर्थी शब्द है। लौकिक स्तर के ऐन्द्रिक आस्वाद से लेकर ब्रह्मानुभूति तक इसकी व्याप्ति है। काव्य-चिन्तन में रस की सत्ता को प्रायः सभी आचार्यो ने स्वीकार किया है। रस ही वह तत्त्व है जो काव्य में आनन्द तत्त्व का निष्पादन करके पाठक या श्रोता को आह्लादित करता है। स्वयं गोस्वामी जी ने काव्य में रस की स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है–

नवरस जप तप जोग विरागा।
ते सब जलचर चारु तड़ागा॥

रामचरितमानस में उन्होंने रसों की स्थिति को रामचरितमानस रूपी सरोवर के प्राणवान जीवों के रूप में माना है जिनका स्वतन्त्र जीवन, अस्तित्व और प्रभाव है।

गोस्वामी जी की कृतियों में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक वीभत्स और अद्भुत जैसे आठ सर्वस्वीकृत रसों (अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता) के अतिरिक्त शान्त, भक्ति और वात्सल्य रसों का पूर्ण परिपाक मिलता है। इस अवसर पर संक्षिप्त परिचय पर्याप्त होगा।

शृंगार रस को आचार्यो ने रसराज की संज्ञा दी है। शृंगार के दो रूप माने गये हैं–संयोग और विप्रलम्भ। संयोग शृंगार का निम्नलिखित उदाहरण ध्यातव्य है–

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावत गीति सबै मितलि सुंदरि, वेद जुवा जुटि विप्र पढ़ाही॥
राम को रूप निहारति जानकी, कंकन के नग की परछाहीं॥
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रहीं पल टारत नाही॥

विवाह मंडप में बैठी सीता अपने कगन के नग में सामने बैठे राम के प्रतिबिंब को देखती हैं। निर्निमेष दर्शन में व्यवधान पड़ने की आशंका से वे अपने हाथों को स्थिर कर लेती हैं। इस छन्द में शृंगार का स्थायी रतिभाव आलम्बन, उद्दीपन और व्यभिचारी जैसे आवश्यक उपकरणों से संयुक्त होकर संयोग शृंगार का अन्यतम उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार राम के वियोगवर्णन में विप्रलम्भ का पूर्ण परिपाक प्रस्तुत किया गया है। सीता के प्रति राम का सन्देह है–

कहेउ राम वियोग तव सीता। मोकहँ सकल भये विपरीता॥
नव तरु किसलय मनहु कृसानू। काल निसा सम निसि ससि भानू॥
कुबलय विपिन कुंत बन सरिसा। बारिद तपस तेल जनु बरिसा॥
जे हित रहे करतसोइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिविध समीरा॥

गोस्वामी जी के शृगार वर्णन में संयोग और वियोग की दोनों स्थितियों में मर्यादाशील भव्यता और अनुभूति की गहनता का कहीं भी स्खलन अथवा कुरुचि का संकेत नहीं मिलता।

गोस्वामी जी ने हास्य रस का प्रयोग अधिक नहीं किया है किन्तु नारद मोहप्रसंग, शूपर्णखा-संवाद, शिव-विवाह जैसे प्रसंगों में सस्मित और विहसित हास्य का सुन्दर सन्निवेश किया गया है। कवितावली में जगत उद्धारक राम को आलम्बन

विभाव बनाकर भक्तिभाव से जिस उदात्त हास्य की निष्पत्ति की गयी है वह निश्चय ही बेजोड़ है। त्रिनेत्र शिव, ने विषधरों का उपवीत और नर मुण्डमाल धारणकर अशिव वेश में दूल्हा बने हाथ में त्रिशूल और डमरू धारण कर लिया। विष्णु ने बड़ा शिष्ट उपहास किया।

बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई॥

इस सूक्ष्म व्यंग्य को सुनकर सारे देवता और स्वयं शिव भी आनन्द से मुस्करा पड़े। इसी प्रकार का शिष्ट हास्य गोस्वामी जी के काव्य में है।

करुण रस में स्थायी भाव शोक के साथ उद्दीपन, विभाव और संचारी का संयोग होता है। राम-वन-गमन, दशरथ-मृत्यु, सीताहरण, बालि-वध के पश्चात् तारा-विलाप, अशोक वाटिका में सीता, मन्दोदरी विलाप, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप जैसे मार्मिक प्रसंगों में करुण रस का पूर्ण परिपाक प्रस्तुत हुआ है। लक्ष्मण मूर्छा के समय राम के हृदय की मर्मातक पीड़ा करुण रस का उद्दाम प्रवाह बन जाती है–

जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिवर कर हीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौ जड़ दैव जिआवै मोहीं॥

रौद्र रस में क्रोध के साथ विभाव उद्दीपन और व्याभिचारी का संयोग होता है। रौद्र वस्तुतः प्रतिकार भाव से उद्दीप्त होता है। गोस्वामी जी की निम्नलिखित पक्तियों में रौद्ररस का पूर्ण परिपाक देखा जा सकता है–

देखा श्रमित विभीषनु भारी। धायउ हनूमान गिरि धारी॥
रथ तुरंग सारथी निपाता। हृदय माँझ तेहि मारेसि लाता॥

अन्य साधक उपकरणों से स्थायीभाव उत्साह के परिपोषित होने पर वीर रस का परिपाक होता है। वीर रस के चार भेद होते हैं–युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, धर्मवीर, लंका युद्ध के समय *मानस* और *कवितावली* में युद्धवीर का सुन्दर प्रयोग किया गया है। पिता के बिना कहे ही वन-गमन के लिए सहर्ष तैयार हो जाने में राम की धर्मवीरता की अनूठी अभिव्यंजना की गयी है। जटायु, शबरी, सुग्रीव, विभीषण आदि प्रसंगों में दान और दया वीरता की अन्यतम व्यंजना हुई है। महाराज जनक के व्यंग्य से उद्दीप्त, वीरोचित दर्प से प्रेरित लक्ष्मण की चरम उत्साह और आत्मविश्वास से संपृक्त गर्वोक्ति वीररस की व्यंजना का सुन्दर उदाहरण है।

तोरऊँ छत्रक दंड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जो न करऊँ प्रभु पद सपथ, पुनि न धरउ धनु हाथ॥

भय स्थायी भाव को जब विभाव उद्दीपन और व्याभिचारी से पुष्ट किया जाता है तब भयानक रस की निष्पत्ति होती है। लंका दहन के समय लंका वासियों

के भय और आतंक का वर्णन करते समय गोस्वामी जी ने भयानक रस की सफल अवतारणा की है। कवितावली और 'मानस' दोनों में भयानक रस के सुन्दर उदाहरण प्रचुरता से उपलब्ध हैं 'बालधी विसाल, विकराल ज्वाल जाल मानो लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है' जैसी पंक्तियों में भयानक रस का पूर्ण परिपाक देखा जा सकता है। युद्ध के वर्णन में बीभत्स रस के भी सुन्दर उदाहरण जो जुगुप्सा भाव को चरम स्थिति तक पहुँचाने में समर्थ है। यथा–

कटहि चरन उर सिर भुजदंडा। बहुतक वीर होहि सत खण्डा॥
धुर्मि धुर्मि घायल महि परही। उठि सँभारि सुभट पुनि लरहीं॥

आश्चर्य के भाव की सुपुष्टि से अद्‌भुत रस की पुष्टि होती है किन्तु इसमें अज्ञानजन्य कुतूहल के स्थान पर विस्मयकारी अद्वितीयता अथवा विशिष्टता ही महत्त्वपूर्ण है। भक्त शिरोमणि गोस्वामी जी भगवान की अतिमानवीय क्रियाओं में अनेक स्थलों पर अद्‌भुत रस की सृष्टि करते हैं जो आस्तिक आस्था के विकास में उपकारक हैं। 'पग बिनु चलई सुनइ बिनु काना। कर बिनु कर्म करइ बिधि नाना॥' जैसी पंक्तियाँ इस दृष्टि से ध्यातव्य हैं।

मानस और *कवितावली* के उत्तर काण्ड तथा *विनयपत्रिका* में शान्तरस का अथाह सागर लहरा रहा है। बाल-वर्णन और राम के वन गमन के पश्चात कौशल्या और दशरथ के व्यथापूर्ण उद्‌गारों में वात्सल्य रस की विलक्षण अभिव्यंजना हुई है। जहाँ तक भक्तिरस का सम्बन्ध है, निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि भक्तिरस ही वह गंगोत्री है जहाँ से गोस्वामी जी की कविता-सुरसरि जगत के मंगल-विधान के लिए प्रवाहित होती है। भक्ति रस वस्तुतः उनके समस्त कृतित्व का प्राणतत्व है। इसके अतिरिक्त सरलरस, ध्यान रस, हरिरस, संकोच रस जैसे रसों का भी उल्लेख किया गया है। कुछ स्थानों पर वे संचारियों के लिए भी रस शब्द का प्रयोग करते हैं। रस की यथार्थ प्रतीति ही काव्य के मर्म तक पहुँचने का प्रमाण है। गोस्वामी जी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं–

राम कथा जे सुनत अघाही।
रस विशेष जाना तिन नाही॥

गोस्वामी जी रससिद्ध कवि हैं। उनकी कृतियों में सभी रसों का पूर्ण परिपाक मिलता है। कुछ स्थलों पर उन्होंने एक ही स्थल पर, कुछ ही पंक्तियों में सभी रसों को एकत्र कर दिया है। रस परिपाक की भाँति रसाभास के भी सुन्दर उदाहरण उनके काव्य में मिलते हैं। उनके काव्य में रस परिपाक के साथ रसौचित्य का भी वैशिष्ट्य है। सहायक रसों की संगति भी बड़े कलात्मक संयम के साथ बैठायी गयी है। सारांशतः गोस्वामी जी की कृतियों में रस का अथाह और अक्षय कोश

विद्यमान है।

सूक्ष्म निरीक्षण की विलक्षण क्षमता और उसका प्रभावी अभिव्यंजन गोस्वामी जी की काव्य-कला का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। मानव, पशु, पक्षी, कीट, जड़ चेतन आदि सभी की प्रकृति, व्यवहार, गुण और धर्म का वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण करते हैं और अपनी अभिव्यक्ति में मूर्तिमान कर देते हैं। विभिन्न प्रकार के क्रिया व्यापारों में स्वभावतः घटित होने वाली मुद्राओं, आंगिक क्रियाओं और अनुभावात्मक परिणतियों को वे बड़ी सूक्ष्मता से देखकर अपनी वाणी में सगुण-साकार करते हैं। मानव-मनोविज्ञान के वे निष्णात पंडित हैं। उनके सभी चरित्रों का विकास-क्रम, उनकी मानसिक प्रतिक्रियाओं, उनकी मानसिक ग्रंथियों आदि का निरूपण मनोवैज्ञानिक संगति के कारण सहज विश्वसनीय प्रतीत होता है। आश्चर्य इस बात का होता है कि वे अपनी अद्भुत प्रज्ञा-चक्षु से अपने से विरोधी प्रकृति वाले व्यक्तियों, खलों, दानवों, कुटिलों आदि की आन्तरिक वृत्तियों को भी बड़ी स्पष्टता से देख लेते हैं। सूक्ष्म-निरीक्षण के साथ उनको लोक व्यवहार का भी गहन-ज्ञान था। सज्जनों और दुष्टों के स्वभाव, पाखंडियों के छल, स्पष्टवादियों की कटूक्ति, पाटल, रसाल और पनस की भाँति मनुष्य के त्रिविध रूप, पति-पत्नी-प्रेम की आधारभूमि, नारी मन की सच्ची परख आदि का चित्रण गोस्वामी जी की कृतियों में बड़ी सफलता से हुआ है। यह अवश्य ध्यातव्य है कि वे सन्त हंस की भाँति वारिविकार को त्यागकर सद्गुणों के ही ग्रहण का निर्देश करते हैं।

गोस्वामी जी की कृतियो मे प्राप्त सम्वाद-सौष्ठव भी उनकी कलागत सिद्धि का प्रमाण है। सम्वाद वक्तृत्व कला का आधान है। वक्तृत्व कला से सम्पन्न व्यक्ति सभ्य समाज में अपना विशिष्ट स्थान बना लेता है। महाकवि भारवि के शब्दों में, 'भवन्ति ते सभ्यतमाः विपिश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।' गोस्वामी जी के रामचरितमानस में सम्वाद के असंख्य स्थल हैं जो वक्तृत्व मनोविज्ञान, उक्ति सौष्ठव और शिष्ट सम्भाषण कला के उत्कृष्टतम उदाहरण हैं। गोस्वामी जी के सम्वादों की चरम सफलता का रहस्य भावों की गम्भीरता, सत्यप्रियता, मात्रा बोध, आन्तरिकता, सांकेतिकता, शीलयुक्त संयमशीलता, तत्परता, सहानुभूति, मनोवैज्ञानिकता अवसरानुकूलता आदि विशेषताओं में छिपा है।

सौन्दर्यप्रियता मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। परमा प्रकृति की विमोहक भंगिमाओं और नानाविध आकर्षक उपादानों के प्रति आकर्षित होने के साथ चेतनजगत के साथ भी अनेक रूपों में सौन्दर्य प्रलुब्धक होता है। सौन्दर्य चाहे प्रकृति का हो अथवा प्राणी जगत का वह अपने रूप, गुण, व्यापार, व्यवहार आदि

के माध्यम से हमें आकर्षित करता है। कलागत सौन्दर्य में सम्प्रेष्य वस्तु, विकास क्रम, सामंजस्य, अभिव्यंजक उपकरणों के समुचित प्रयोग, उपकारक तत्त्वों के सम्यक समावेश, भाव गाम्भीर्य और वैचारिक उदात्तता का समन्वय होता है। गोस्वामी जी की कृतियों में सभी स्तरों पर सौन्दर्य बोध का चरम उत्कर्ष देखा जा सकता है। अश्लीलता कलागत सौन्दर्य का विघातक तत्त्व है। लज्जा, जुगुप्सा और अमंगल जनक भाव अश्लीलता के कारण तत्त्व हैं। गोस्वामी जी प्रकृत्या मर्यादावादी हैं। उनके कृतित्व में कहीं भी अशोभनीय अथवा लज्जाजनक कथन नहीं है। शिव-पार्वती के शृंगार वर्णन के अवसर पर वे घोषित करते हैं—

जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहि सिंगार न कहउँ बखानी॥

गोस्वामी जी ने जहाँ कहीं जुगुप्सा और अमंगल व्यंजक अभिव्यक्तियाँ की हैं वे सन्दर्भगत आवश्यकता के अनुसार उद्देश्य की पोषक हैं। उनका पाठक या श्रोता के मन पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। बहुत प्रयास करने पर गोस्वामी जी की कृतियों में कुछ कमियाँ ढूँढ़ी जा सकती हैं किन्तु वे उनकी महान उपलब्धियों के सम्मुख नगण्य हैं।

वस्तुतः वस्तु औदात्य, भाव गाम्भीर्य, अर्थ समृद्धि, भाषा शक्ति, सृजनशील कल्पना, छन्द विधान, भव्य पद योजना, रस परिपाक, सम्वाद सौष्ठव, अलंकार योजना, उक्ति वैचित्र्य, वचन चातुरी, सौन्दर्य बोध, श्रीलता, बहुश्रुतता, कलात्मक समय और विलक्षण प्रतिभा सामर्थ्य से गोस्वामी जी को जो कलागत सिद्धि मिली है, वह अन्यतम है। ठीक ही कहा गया है—

कविता करके तुलसी न लसे
कविता लसी पा तुलसी की कला।

6

भक्ति दर्शन

भारतीय परम्परा में भक्ति का इतिहास अति प्राचीन है। आदिम अवस्था में मनुष्य प्रकृति की अनियन्त्रित सत्ता के प्रति नत-विनत ही नहीं हुआ उसमें एक अलक्षित और अदृश्य शक्ति की कल्पना भी करने लगा। आरम्भ में चाहे यह भाव भय से उत्पन्न हुआ हो किन्तु कालान्तर में यह अदृश्य शक्ति श्रद्धा और विश्वास की वस्तु बनने लगी। लोग अपने जीवन की वांछित सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए प्राकृतिक शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थनाएँ करने लगे। वेदकालीन निगम ग्रन्थों में इस प्रकार की अनेक प्रार्थनाओं का समावेश है। इन्द्र, वरुण, मरुत, अग्नि, सविता, सोम आदि देवताओं की कल्पना इसी पद्धति से सगुण-साकार हुई। निगमों में बहुदेववाद के साथ एकेश्वरवाद की भी प्रतिष्ठा हुई। 'एकसद विप्राः बहुधा वदन्ति।' के विश्वास से एक सर्वशक्तिमान की प्रतिष्ठा हुई। इस शक्ति के अदृष्ट रूप का प्रतीक अग्नि को, दृष्ट रूप का प्रतीक सूर्य को माना गया। कलान्तर में इन्हीं का रूपान्तर क्रमशः रुद्र और विष्णु के रूप में हो गया। यज्ञ याग के सन्दर्भ में ब्राह्मण कृत्यों के आधार ब्रह्मा की भी कल्पना की गयी और इस प्रकार त्रिदेवों की पूजा का प्रचलन आरम्भ हुआ। इन देवताओं की कृपा ही नहीं उनके प्रेम प्राप्त करने की भी तीव्र इच्छा व्यक्त की गयी। परिणाम स्वरूप अलक्षित सत्ता के प्रति भय और कुतूहल मिश्रित भाव, श्रद्धा और विश्वास से पोषित होकर भक्ति में बदल गया। आगमों के व्यापक प्रभाव से भक्ति मार्ग को पोषण और प्रोत्साहन मिला। पुराण काल में भक्ति मार्ग को बहुत प्रोत्साहन मिला। पुराणकारों ने वैदिक ग्रन्थों को अपना उपजीव्य मानकर आगमों से प्रेरणा लेकर वैदिक देवताओं की आकृति प्रकृति के अनुकूल नाम, रूप, लीला और धाम की विस्तृत विवेचना की। पाँच महाभूतों के आधार पर सूर्य, गणेश, देवी, शिव और विष्णु को परम सत्ता के पाँच रूपों के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। सामूहिक दृष्टि और लोककल्याण की भावना पर आधारित होने के कारण भक्ति के क्षेत्र

में विष्णु का स्थान सर्वोपरि हो गया। यह प्रभाव इतना बढ़ा कि भक्ति और विष्णु मे अभेद की स्थिति पैदा हो गयी। साथ ही वैष्णव भक्ति के नियमो के तात्त्विक ज्ञान, आगमों की अनुष्ठान धर्मी साधना पद्धति, पुराणों के नाम, रूप, लीलाधाम की भावना से जुड़ी अनुरक्ति समेकित हो गये। इसी वैष्णव भक्ति का पूर्ण परिपाक राम और कृष्ण भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों मे अभिव्यक्ति हुआ। गोस्वामी जी का भक्ति दर्शन इसी 'नानापुराणनिगमागम' समर्थित दृष्टि पर आधारित है।

भक्ति का स्वरूप

यद्यपि वेदकाल से ही भक्ति के लक्षण बीजरूप मे संकेतित किये जाते रहे है किन्तु उसका व्यवस्थित और सुनिश्चित रूप हमे भगवान पुराण में देखने को मिलता है। भागवतपुराण मे अनेक स्थलों पर भक्ति का निरूपण किया गया है। भागवत की भक्ति का स्वरूप है–

देवाना गुणलिंगानामानुश्रविक कर्मणाम।
सत्य एकैव मनसो वृतितः स्वाभाविकी तु या।
अनिमित्ता भगवति भक्तिः सिद्धदेर्गरीयसी॥

अर्थात् भक्ति एक ऐसी स्वाभाविक और सात्विक वृत्ति है जो भगवान के प्रति अनन्य भाव रखती है। भागवत में स्पष्ट किया गया है कि भक्ति वस्तुतः भगवान में मन के स्थिरीकरण की स्थिति है, जिसमे मन एकनिष्ठ भाव से अनन्यता के साथ ईश्वरोन्मुख बना रहता है। भक्ति निर्विकल्प और अहेतु की होती है। भक्ति सूत्रकार शांडिल्य के अनुसार भक्ति भगवान के प्रति परानुरक्ति है। अर्थात् चरम विकास को प्राप्त भगवत्प्रीति ही भक्ति है। 'सापरानुरक्तिरीश्वरे' नारद ने अपने भक्तिसूत्र में अनेक भक्ति-आचार्यो के सिद्धान्तों का सार प्रस्तुत करते हुए अपना मत प्रकट किया है कि भक्ति ईश्वर के प्रति परमप्रेम का स्वरूप है। 'सास्वस्मिन परमप्रेमरूपा' इस प्रेम स्वरूपा भक्ति की ग्यारह आसक्तियों अथवा भक्ति की दशाओं का भी विवेचन नारद ने किया है। पांचरात्र आगम मे भी भगवान विष्णु के प्रति निर्विकार प्रेम को भक्ति कहा गया है। गीता में भगवान कृष्ण ने दैवी प्रकृति के आश्रित महात्माओं का लक्षण बताते हुए कहा है कि वे भगवान को सर्वभूतों का सनातन कारण और अक्षर स्वरूप मानकर एकनिष्ठ मन से निरन्तर भजन करते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

श्री रामानुजाचार्य ने गीता पर भाष्य लिखते समय स्नेहपूर्ण अनुस्मरण को भक्ति का स्वरूप माना। आचार्य शंकर के अनुसार मन, वाणी और कर्म द्वारा सम्पादित सभी कर्म भक्ति होते हैं। 'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्।'

भारतीय परम्परा में साधन और साध्यरूप भक्ति की अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं। ऋषियो और महर्षियों ने अपनी-अपनी दृष्टि से भक्ति पर विस्तार से विचार किया है। भक्ति को व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करने वाले और उसे सम्यक् परिपूर्णता प्रदान करने वाले रामनुजाचार्य के अनुयायी रामानन्द द्वारा की गयी भक्ति की परिभाषा विशेष रूप से लक्षणीय है। उनका मत है—

उपाधिनिर्मुक्तयनेकभेदकं भक्तिः समुक्ता परमात्मसेवनम्।
अनन्य भावेन नियम्य मानसं महर्षिमुख्यैर्भगवत परत्वतः॥
सा वैलधारावदनष्टसंस्मृतिव्रतः न रूपेशपरानुरक्तिका।
भक्तिविवेका दिसप्रभूमिजा यमादिकाष्टावयवा मता बुधे॥

अर्थात् अनन्य भाव से नियन्त्रित मानस द्वारा भगवत्परायण होकर की जाने वाली उपाधि-निर्मुक्त परमात्मसेवा ही 'भक्ति' है। भक्ति भगवान के प्रति परानुरक्ति है, स्मृति-सन्तान है, तैलधारा की भाँति अविच्छिन्न है। विवेक आदि उसकी सात भूमियाँ हैं और यम आदि उसके आठ अवयव हैं। रामानन्द इस लक्षण-अपलक्षण-साधन आदि से संयुक्त परिभाषा को व्यक्तिगत न मानकर विचारकों के साक्ष्य के साथ प्रस्तुत करते हैं। इस परिभाषा मे विशेष रूप से लक्षणीय बात यह है कि इसमें पूर्ववर्ती परिभाषाओं को समन्वित करके एक पूर्ण परिभाषा देने का प्रयास किया गया है। मध्वाचार्य ने भगवान के महात्म्यज्ञान से उत्पन्न परम अनुरक्ति को भक्ति कहा है जब कि वल्लभाचार्य ने आराध्य के महात्म्य ज्ञान के साथ उसके प्रति सुदृढ़ और असीम स्नेह को भक्ति कहा है और भक्ति को ही मुक्ति का एक मात्र साधन माना है। भक्तिरस के प्रवक्ता रूप गोस्वामी ने अपनी भक्ति-परिभाषा में अनन्यता, ज्ञान-कर्म वियुक्ति, प्रेम, स्मृति-स्वरूपता आदि लक्षणों को समन्वित करके उसे व्यापक शास्त्रीय भूमि प्रदान की।

अद्वैत वेदान्त में भक्ति स्वरूपानुसंधान का ज्ञानात्मक साधन है। किन्तु वैष्णव भक्ति का जो स्वरूप वैष्णव आचार्यो द्वारा प्रतिष्ठित किया गया है उसमे ज्ञान लक्षणा भक्ति का अद्वैती स्वरूप स्वीकार्य नहीं है। उसमें तो भगवान और भक्त का द्वैत अनिवार्य है। ब्रह्मविद्या और भक्ति में आश्रय, रूप, स्वरूप, साधन, फल, अधिकार आदि सभी दृष्टियों से भिन्नता है। भक्ति साधना और साध्य दोनों है।

गोस्वामी जी का भक्ति निरूपण समन्वय पर आधारित है। इसलिए उनका भक्ति-दर्शन व्यापक और समावेशक है। उन्होंने कुछ नये मानक भी स्थापित किये।

भक्ति को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा—

जाते वेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥

उक्त अर्धाली में भक्ति की संक्षिप्ततम परिभाषा दी गयी है किन्तु अपनी अर्थ व्याप्ति में वह बहुत अर्थगर्भ है। गोस्वामीजी का मत है कि जो भाव, विचार या क्रिया आराध्य को शीघ्र द्रवित कर दे वही भक्ति है। किन्तु ध्यातव्य है यह परिभाषा स्वयं भगवान द्वारा स्थापित करायी गयी है। इससे उसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। दूसरी मार्मिक बात यह है कि भक्ति भगवान और भक्त के बीच एक रागात्मक सम्बन्ध अर्थात् बन्धुत्व स्थापित करती है इसलिए उसमें केवल भगवान का त्वरित द्रवीभूत हो जाना ही पर्याप्त नहीं है, भगत सुखदायी होना भी आवश्यक है। अर्थात् भक्ति वही है जिससे आराध्य तत्काल द्रवीभूत होकर अनुकूल हो और शरणागत भक्त प्रीति-प्रतीतिपूर्वक आह्लाद का अनुभव करे। ध्यान से देखने पर लक्षित होगा कि इस छोटी-सी परिभाषा में प्रेम, प्रपत्ति और शरणागति के साथ ही ईश्वर कृपा, भक्ति की श्रेष्ठता, आराध्य की सर्वशक्तिमत्ता तथा भक्ति से प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक आनन्द का समावेश हो गया है।

दोहावली में भक्ति को परिभाषित करते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं—

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय रागरिस जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥

उक्त दोहे मे राम की प्रीति के साथ नीति-पथ के अनुसरण और रागरिस से विरत होने की बात कही गयी है। वस्तुतः राग-द्वेष से आविष्ट चित्त में राम की प्रीति का उदय हो ही नहीं सकता। राग-द्वेष से उपराम होने के पश्चात ही आराध्य के प्रति शुद्ध प्रपत्ति और अनुरक्ति का भाव उत्पन्न होता है। नीतिपथ का अनुसरण आचरण मूलक शुचिता द्वारा विषयासक्ति से विमुख करता है। अभिप्राय यह कि 'नीति-पथ' के अनुसरण और 'रागरिस' पर विजय प्राप्त करने से भक्त के हृदय में राम की प्रेम-स्वरूपा भक्ति की भूमिका तैयार होती है। यम-नियम नियन्त्रित नीति-पथ-अनुगामी, विरज विशुद्ध चित्त वाला भक्त-हृदय, निष्काम भाव से भगवान की पावन प्रीति में तद्वत हो जाता है। यही 'परानुरक्ति' अथवा परम प्रेमा भक्ति है।

प्रेमाभक्ति और गुणात्मिका भक्ति के उभय रूपों में गोस्वामी जी प्रेमाभक्ति के पोषक हैं। राम के प्रति प्रीति-प्रतीति ही रामाकार होने का साधन है। प्रीति ही माया मुक्त करके भगवान की भक्ति में अनन्यभाव से अनुरक्त करती है। अखण्ड विश्वास और अनन्यता प्रेम की ठोस भूमि है। उस भूमि पर पहुँचा हुआ भक्त माया-मोह के प्रवाह में पतित नहीं होता। ऐसे अखण्ड श्रद्धा-संयुक्त भक्त

के हृदय मे उद्भूत प्रीति असाध्य को भी साध्य बना देती है। पाहन से परमेश्वर निकल आते हैं। गोस्वामी जी कहते हैं–

प्रीति बदौं प्रह्लादको जिन पाहन ते परमेसुर काढ़े।

इतना ही नहीं इस प्रीति प्रतीति की प्रगाढ़ता के कारण ही शैली प्रतिमाओ को ईश्वर का स्वरूप मानकर उनकी पूजा की जाने लगी।

प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तबसे सब पाहन पूजन लागे।

गोस्वामी जी मानते हैं कि बिना प्रीति प्रतीति के न तो रामपद में अनुराग ही सम्भव है और न भक्ति ही। ऐसी स्थिति में राम के द्रवीभूत होने का प्रश्न नहीं उठता। राम की कृपा के बिना भवसागर पार करने का कोई उपाय नहीं। उनका दृढ़ विश्वास है–

प्रीति प्रतीति राम पद पंकज
सकल सुमंगल खानी।

सर्व मंगलप्रदा प्रीति के पावन रस का आस्वाद अनुभव कर लेने पर सभी प्रकार के स्वाद स्वयमेव फीके पड़ जाते हैं। गोस्वामी जी कहते हैं–

जो मोहिं राम लागते मीठे
तौ नवरस षटरस अनरस है जाते सब सीठे॥

स्पष्ट है कि प्रीति परिपाक से निष्पन्न भक्ति रसामृत का स्वाद गोस्वामी जी के अनुसार अन्यतम है। काव्य अथवा कलाक्षेत्र के नौ रस तथा जिह्वा द्वारा आस्वाद्य छः रस भक्ति रस के सम्मुख निःसार हो जाते हैं। राम के प्रति इस प्रियत्व की लोकोत्तरता के कारण ही गोस्वामी जी घोषित करते है–

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही॥

गोस्वामी जी की कवितावली, गीतावली, मानस, विनयपत्रिका जैसे कृतियों में राम की प्रीति-प्रतीति के पोषक असंख्य उदाहरण भरे पड़े हैं। साराशतः यही कहा जा सकता है कि प्रीति-प्रतीति गोस्वामी जी के भक्ति दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व हैं।

भक्तिरस का उद्रेक भी अन्य रसों की ही प्रक्रिया से होता है। आराध्य देव उसका आलम्बन विभाव है। आराध्य से सम्बन्धित कथा, महात्म्य, गुण उद्दीपन विभाव का काम करते है। स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, अश्रु आदि उसके अनुभाव हैं। आराध्य के प्रति रति इसका स्थायीभाव है। इसी से दास्य, वात्सल्य, सख्य, शान्त और मधुर रसों की निष्पत्ति होती है। भक्ति अपनी रुचि के अनुसार इसी में से किसी रस की गहन अनुभूति में इष्ट के साथ तदाकार होकर महाभाव की स्थिति को प्राप्त होती है। इसी मानसिक अद्वैत की अनुभूति के कारण किसी व्यवधान

के आने से तीव्र विरहानुभूति भी होती है। रागात्मिका भक्ति में विरहानुभूति भक्ति भावना दृढ़ से दृढ़तर बनाती है। वियोगावस्था भक्ति भाव के चरमोत्कर्ष का कारण बनती है। गोस्वामी जी ने भरत की विरहासक्ति के चित्रण में इसी उत्कर्ष को रूपायित किया है।

प्रेम अमिय मंदरु विरह, भरत पयोधि गंभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित, कृपा सिंधु रघुवीर॥

भक्तिशास्त्रों में विधि-निषेधों पर आधारित वैधी भक्ति और भावाधृत भक्ति का विवेचन किया गया है। वैधी भक्ति के पाँच अंग निर्धारित किये गये हैं। अन्तर्बाह्य की शुद्धता से युक्त उपासक 2. आलम्बन स्वरूप उपास्य 3. पूजा सामग्री 4. षोडषोपचार जैसी पूजाविधि 5. मंत्रजप। वैधी भक्ति के अनेक नियम उपनियम और विधि निषेध हैं। गोस्वामी जी ने अपने युग धर्म को ध्यान में रखते हुए शास्त्रोक्त वैधी भक्तिपर अधिक बल नहीं दिया। वैधी भक्ति के प्रति जनमानस को आकर्षित और आस्थावान बनाने में व्यावहारिक बाधाओं का उन्हें ध्यान था। इसलिए मूर्तिपूजा का विरोध न करने पर भी गोस्वामी जी ने उस पर अधिक बल दिया। उन्होने तो ध्यान, यज्ञ और पूजा को क्रमशः कृत युग, त्रेता और द्वापर की वस्तु माना। कलियुग के लिए हरिगुणगान ही भवसागर पार करने का एकमात्र उपाय है। गोस्वामी जी लिखते हैं–

कृत युग सब योगी विज्ञानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥
त्रेता विविध यज्ञ नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि करम भव तरही॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥
कलियुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥

गोस्वामी जी ने कलिकाल में योग, यज्ञ और ध्यान के स्थान पर के भगवान के गुणानुवाद या नामजप को ही विश्वसनीय आधार माना है। वस्तुतः सभी युगों में सभी प्रवृत्तियों के लोग विद्यमान रहते हैं। किन्तु युगों के अनुसार प्रवृत्तियों में स्वाभाविक संक्रमणशीलता आ जाती है। युगधर्म की अनुकूलतावाली प्रवृत्ति प्रमुख हो जाती है और शेष प्रवृत्तियाँ गौण। कलियुग में भी यही स्थिति है। गोस्वामी जी ने स्वयं देखा था कि यवनों द्वारा मूर्तियों का भंजन हो रहा था। मूर्ति-पूजा में आस्था रखने वाले लोग निरीह और निरुपाय होकर दुर्दान्त यवनों की अमानुषिक लीला देखते रहे। धर्म विरुद्ध कठोर आचरण के बावजूद ये शासक निरापद बने रहे। ऐसी स्थिति में मूर्ति पूजा का प्रचार या उस पर अतिरिक्त बल युगधर्म के अनुकूल नहीं था। यही कारण है कि गोस्वामी जी ने नाम की आस्था पर अत्यधिक बल दिया। उन्होंने युग धर्म की अनिवार्यता और सार्थकता को रेखांकित करते

हुए स्पष्ट किया—

नित युग धर्म होंहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे॥
सुद्ध तत्त्व समता विग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥
सत्व बहुतरज कछु रतिकरमा। सब विधि सुख त्रेता कर धरमा॥
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धरम, हरष भय मानस॥
तामस बहुत रजो गुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥
बुध जुग धरम जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धरम कराहीं॥

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी स्वीकार करते हैं कि युग विशेष में दूसरे युगों की विशेषतायें विद्यमान रहती हैं किन्तु युग प्रधान प्रवृत्ति ही सर्वाधिक उदग्र और प्रतिष्ठित रहती है। बुद्धिमान लोग युग धर्म का भली भाँति मनन करके अर्थात् युग धर्म की सापेक्षता में अधर्म निवारण और धर्माचरण का निश्चय करते हैं। युगधर्म की सापेक्षता में ही भक्ति भी सर्वग्राह्य और सर्वस्वीकृत हो पाती है। गोस्वामी जी के समय में ईश्वर आराधना की अनेक प्रणालियाँ प्रचलित थी। अनेक पन्थों का प्रचलन था। आराध्य देवों के तर-तम भेद को लेकर अनेक विवाद भी खड़े हो गये थे। कबीर पन्थी सन्तों का सगुण-भक्ति विरोध और सूफियों की रहस्यमयी प्रेम साधना भी जन मानस के अनुकूल नहीं पड़ रही थी। ऐसी अराजक स्थिति में गोस्वामी ने वैज्ञानिक और सुगम भक्ति-पथ का संधान किया। उन्होंने कहा—

श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ, संजुत विरति विवेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस, कलपहिं पंथ अनेक॥

इस परिभाषा में गोस्वामी जी भक्ति के जिस स्वरूप को रेखांकित कर रहे हैं उसकी विशेषताओं पर ध्यान देना अत्यन्त रोचक है। जिस मार्ग से चलकर जीवन की चरम सार्थकता को प्राप्त किया जा सकता है, जिस पथ का अनुसरण जीवन की चरम सिद्धि तक पहुँचाता है वह हरिभक्ति पथ है। हरभिक्ति ही त्रितापों को दूर करने, माया-मोह से बचाने, हरिविमुखता से रोकने, सत्संग में लगाने, व्यक्तित्वाभिमान को मिटाने और लोकोत्तर भक्तिरसामृत के प्रभाव से परम प्रेम की अनुभूति कराने का सर्वोत्तम साधन है। ध्यातव्य है कि युगधर्म के अनुसार गोस्वामी जी ज्ञानपथ और कर्म पथ की अपेक्षा भक्ति पथ को ही वरीयता देते हैं किन्तु वे ज्ञान पथ और कर्म पथ का निषेध नहीं करते, ज्ञान पथ और कर्म पथ समन्वित भक्तिपथ की श्रेष्ठता पर बल देते हैं, इसलिए भक्ति पथ को स्पष्ट करने के लिए 'श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ' की बात करते हैं। 'श्रुति' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने केवल वेद ग्रन्थों अथवा निगमों के लिए ही नहीं किया

है। नानापुराणनिगमागम सभी उनकी श्रुति-सीमा में आते हैं। अभिप्राय यह है कि गोस्वामी जी उस हरिभक्ति पथ की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं जो भारतीय परम्परा में निगमों, आगमों, पुराणों आदि से समर्थित है। श्रुति शब्द से दूसरा संकेत यह मिलता है कि गोस्वामी जी स्मृतियों की शास्त्रोक्त सरणियों की अपेक्षा महर्षियों की अनुभव सिद्ध आप्त वाणी को अधिक व्यवहार्य और प्रामाणिक मानते हैं। श्रुति सम्मत की शर्त लगाने से उनका अभिप्राय भारतीय परम्परा की रक्षा और व्यावहारिक अकाट्यता से है।

'श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ' के लिए वैराग्य और विवेक का संयोग भी अनिवार्य है। लौकिक आसक्तियों, एषणाओं, संसक्तियों, वासनाओं से विरक्त हुए बिना माया-प्रवाह-पतित चित्त में भक्ति-भाव का उदय असम्भव है। इसलिए गोस्वामी जी मोहजनित दुर्बलताओं से विरति को भक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं। विरति के साथ ही विवेक भी आवश्यक तत्त्व है। विवेक वह ज्ञानात्मक शक्ति है जो करणीय और अकरणीय का विभाजन करती है। इसी से नीर-क्षीर का भेद सम्भव होता है। विवेक ही युग धर्म के परिप्रेक्ष्य में कर्तव्य निर्धारण की वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करता है। ऐन्द्रिक वासनाओं, अन्धविश्वासों, मानवीय दुर्बलताओं, कुकृत्य और कुपथ के परिणामों आदि का यथार्थ ज्ञान विवेक शक्ति से ही प्राप्त होता है। गोस्वामी जी का स्पष्ट मत है कि हरिभक्ति के पथ पर चलने वाले के लिए अन्धश्रद्धा अथवा भावात्मक उद्वेग के स्थान पर प्रखर विवेक की आवश्यकता होती है। यह विवेक ही बहुपन्थों और नाना मतवादों में उलझी धारणाओ के बीच से सार्थक और मूल्यवान तत्त्व का संधान करता है। विवेक भक्ति की प्रामाणिकता को सिद्ध करता है। इस परिभापा पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी विरति और विवेक से युक्त, श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ के समर्थक और पोपक हैं। उनकी भक्ति के विस्तृत वृत्त मे नानापुराणनिगमागम की भारतीय परम्परा, ज्ञान, वैराग्य कर्म की साधना, सगुण-निर्गुण ब्रह्म की आराधना, लोक और वेद की आस्था, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और नैतिक मूल्यो में अकंप निष्ठा, मन वाणी और कर्म की पवित्रता आदि सभी कुछ समाविष्ट है।

गोस्वामी जी उन सभी व्यक्तियों को मोहग्रस्त मानते हैं जो विरति और विवेक के साथ श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ का अनुसरण नहीं करते। अनेक पन्थों की कल्पना करके उनका प्रचार-प्रसार भी गोस्वामी जी की दृष्टि में मोहग्रस्त मानस की दिग्भ्रान्त प्रवृत्तियॉ हैं। गोस्वामी जी मानते हैं कि–

विरति चरम असि ग्यान, मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सो हरिभगति, देखु खगेश विचारि।

विरति की ढाल और ज्ञान की तलवार से लोभ, मोह, मद आदि शत्रुओं को समाप्त कर देने पर यथार्थ भक्ति की प्राप्ति होती है। यही भक्ति-मणि सभी सुखो की खानि है। यह सुलभ और सुखकारी है, सभी श्रुति सम्मत कर्मो, और नानापुराण निगमागम के ज्ञान, का भव-अघहारी फल है। यही भक्ति संयम, नियम, ज्ञान, विज्ञान, योग, बिराग, विद्या, विनय विवेक का सुखद परिणाम है। भक्तिवंत होकर नीच व्यक्ति भी राम को प्राण प्रिय लगता है। मायापति भगवान को भक्त के समान कोई दूसरा प्रिय नहीं। इसलिए भक्ति रस का आस्वाद प्राप्त कर लेने वाला भक्त सांसारिक विषय-वासनाओं से स्वयमेव उदासीन हो जाता है। गोस्वामी जी कहते है–

पूनो प्रेम भगति रस हरिरस जानहि दास।
सम सीतल गत मान ज्ञान रस विषय उदास॥

गोस्वामी जी की दृष्टि मे अनपायनी प्रेमा भक्ति जीवन की चरम सिद्धि और सार्थकता है।

गोस्वामी जी भक्ति को साध्य और साधन दोना रूपां मे स्वीकार करते हैं। साधनरूपा भक्ति राम कृपा से सत्संग द्वारा प्रेरित और पोषित होकर आराध्य भगवान राम की ओर उन्मुख करती है। किन्तु सच्चे भक्त को अनपायनी भक्ति के ही वरदान की कामना होती है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष जैसे पुरुषार्थ छोडकर सच्चा भक्त 'जन्म जन्म रति राम नद' का वरदार मॉगता है। गोस्वामी जी के साहित्य मे चित्रित शिव, कागभुसुंडि, गरुड़, भरत आदि भक्त प्रेमाभक्ति को प्राप्त करने का ही लक्ष्य रखते है। यहॉ भक्ति साधन और सिद्धि दोनों बन जाती है। ज्ञान का दीप किसी तीव्र झोंके के प्रभाव से बुझ सकता है किन्तु भक्ति तो तेजपुंज मणि है। यदि एक बार प्राप्त हो जाये तो किसी भी प्रकार की तमिश्रा के ठहरने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस दृष्टि से भक्ति सर्वाधिक प्रत्ययकारी और समर्थ साधन है। किन्तु इस साधन से भक्त को कौन-सी सिद्धि प्राप्त करनी है ? उत्तर होगा भक्ति रसामृत के अगाध सागर में आकण्ठ अवगाहित होकर महाभाव के चरम आनन्द को प्राप्त करना। अर्थात् भव-भीति से आत्यन्तिक मुक्ति पाकर अनन्य भाव से भगवान की रागात्मिका भक्ति में लीन होना। स्पष्ट है कि गोस्वामी जी के अनुसार साधन रूप भक्ति का साध्य भी अन्ततः अखण्ड भक्ति ही है।

भक्ति के साधन

भक्ति के स्वरूप विश्लेषण में हमने देखा कि साधन रूपा और साध्यरूपा भक्ति में परस्पर पूरकता अथवा अभेद की स्थिति है। इसी प्रकार भक्ति और भक्ति

के साधनों में भी अभिन्नता की स्थिति दिखायी पड़ती है। श्रीमद्भागवत में भक्ति के नौ साधन बताये गये हैं।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इतिपुंसार्पिता विष्णो भक्तिश्लेन्नवलक्षणा॥
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येप्रीतमुत्तमम्॥

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन भक्ति के नौ साधन हैं। *श्रीमद्भागवत* द्वारा प्रतिपादित यही बहुचर्चित नवधा भक्ति है। कुछ अन्तर से आध्यात्म रामायण में भी नवधा भक्ति की चर्चा की गयी है। इसके अनुसार, सत्संग, कथारति, निरभिमान गुरुभक्ति, कीर्तन, यम-नियम पालन, निष्ठापूर्ण भगवत्पूजा, अनन्यता, सन्तोषवृत्ति, सर्वतोभावेन समर्पण, भक्ति के नौ साधन हैं। भागवत की नवधा भक्ति की अपेक्षा अध्यात्म रामायण की नवधा भक्ति अधिक व्यापक है। सम्भवतः गोस्वामी जी ने आध्यात्म रामायण में परिगणित भक्ति साधनों को ही आधार बनाकर शबरी प्रसंग में नवधा भक्ति का विवेचन किया। *रामचरितमानस* में शबरी को नवधा भक्ति का विवेचन करते हुए राम कहते हैं—

प्रथम भक्ति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरुपद पंकज सेवा, तीसरि भक्ति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकाशा॥
छठ दमसील विरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोते संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहु नहि देखइ पर दोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

यहाँ पर गोस्वामी जी सत्संग, कथारति, अभिमानरहित होकर गुरुपदसेवा, निष्कपट भाव से प्रभु का गुणगान, विश्वासपूर्वक नाम का जप, इन्द्रिय निग्रह के साथ सन्त शील का विरतिपूर्ण आचरण, सम्पूर्ण जगत को राममय देखना और भक्तों को भगवान से अधिक समझना, यथालाभ सन्तोष और परदोष न देखना, हर्ष-विषाद मुक्त, छलहीन सरल व्यवहार को नवधा भक्ति के रूप में निरूपित किया। इसमें से किसी एक के भी प्राप्त कर लेने से प्राणी भगवान को प्रिय हो जाता है।

रामचरितमानस के एक दूसरे प्रसंग में भक्तों के चौदह लक्षणों का उल्लेख किया गया। प्रकारान्तर से ये लक्षण भी चौदह प्रकार से भक्ति साधन ही हैं।

इन लक्षणों के निरूपण में गोस्वामी जी ने भक्तों की विशेषताओं का विस्तार से वर्णन किया है। अयोध्या काण्ड में वन की ओर जाते समय राम, लक्ष्मण और सीता वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में आये। राम ने ऋषि से वनभूमि में अपने निवास के अनुकूल स्थान की जानकारी लेनी चाही। इसी सन्दर्भ में वाल्मीकि ने चौदह प्रकार के भक्तों के हृदय को राम का उचित आवास बताया और उसके पश्चात् चित्रकूट का उल्लेख किया। भक्तों के ये लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. जिनके श्रवण समुद्र की भाँति विशाल और रामकथा के लिए अतृप्त रहते हैं।
2. जिनके लोचन चातक की भाँति राम के घनश्याम रूप पर आसक्त रहते हैं।
3. जिसकी जिह्वा राम के विमल यश रूपी सरोवर में मुक्तारूपी गुणों को चुगती है।
4. जो प्रभु के प्रसाद को सादर ग्रहण करते हैं, विनय और प्रीति से गुरु और विप्र की सेवा करते हैं और जो प्रभु को अर्पण करके भोजन करते हैं।
5. जो रामनाम का नित्य जाप करते हैं, सपरिवार प्रभु की पूजा करते हैं, यज्ञादि कर्म के पश्चात ब्राह्मण को भोजन कराकर स्वयं भोजन करते हैं और गुरु को भगवान से भी बडा मानकर सर्वभाव से सेवा करते हैं तथा अपने सभी कर्मो का एक ही फल माँगते है और वह है राम-चरन-रति।
6. जो काम, क्रोध, मद, मान, लोभ, मोह, क्षोभ, राग द्वेष आदि से मुक्त हैं।
7. जो सर्वप्रिय, सर्वहितकारी, दुख-सुख, प्रशंसा-निन्दा मे समभाव रखने वाले, सत्यनिष्ठ, प्रियवादी और अनन्य भाव से प्रभु के प्रति समर्पित हैं।
8. जो परनारी को जननी के समान सामने वाले, दूसरों की समृद्धि में सुखी होने वाले, परदुख कातर, भगवान को प्राणों से प्रिय मानने वाले हैं।
9. जो राम को ही स्वामि, सखा, पितु, मातु, गुरु, सबकुछ मानते हैं।
10. जो अवगुण त्यागी, गुणग्राही, विप्रधेनुहितैषी और नीति निपुण हैं।
11. जो गुणों को प्रभुका, अवगुणों को अपना समझनेवाले, प्रभु पर भरोसा रखने वाले और रामभक्तों से प्रेम करने वाले हैं।
12. जो जाति-पाति, धन-धर्म, घर-परिवार, आदि छोड़कर केवल प्रभु को हृदय में धारण करते हैं।

13. जो स्वर्ग, नर्क और मोक्ष को समान मानकर, मन, वाणी और कर्म से प्रभु की सेवा में लीन होते हैं।
14. जिन्हें प्रभु के स्वाभाविक प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी पाने की इच्छा नहीं होती। इन भक्ति लक्षणा को सक्षेप में श्रवण, दर्शन, भजन, सेवाभाव, गुरुभक्ति, पवित्रता, अनन्यता, भौतिक भोग के प्रति अनासक्तता, ईश्वरनिष्ठा, परोपकार, विनम्रता, ऐश्वर्यभोग, मोक्ष के प्रति उदासीनता और सहज प्रेम के रूप में परिगणित किया जा सकता है। ये लक्षण भक्ति और भक्त के प्रकार भी हैं और भक्ति साधन भी।

'मानस' में अन्यत्र लक्ष्मण को भक्ति की महिमा समझाते हुए राम भक्ति के साधनों का उल्लेख निम्नलिखित रूप में करते है–

प्रथमहि विप्र चरन अतिप्रीति। निज निज कर्म निरत श्रुति रीति॥
यहिकर फल पुनि विषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीलारति अति मन माहीं॥
संत घरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिं कह जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन वह नीरा।
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरन्तर वस मैं ताके॥
बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निहकाम।
तिनके हृदय कमल महुं, करौ सदा विश्राम॥

उक्त उद्धरण में भक्ति के साधनों में विप्रसेवा, श्रुति रीति से स्वधर्म पालन, विषयों से विरक्त होकर भागवत धर्म में अनुराग, श्रवणादि नवधा भक्ति की दृढ़ता, भगवान की लीला मे अपार अनुरक्ति सन्त सेवा, ईश्वर के सर्वस्वरूप में दृढ़ विश्वास, सात्विक प्रेमोन्माद द्वंद्वातीत होकर अनन्यासक्ति का रेखांकन किया गया है।

मानस के उत्तरकाण्ड में ज्ञान-दीप और भक्ति मणि की चर्चा की गयी है। ज्ञान दीप एक सुदीर्घ प्रक्रिया का परिणाम है। इसके लिए मन का नियन्त्रण, कामनाओं से मुक्ति, इन्द्रिय निग्रह, निश्चयात्मिका बुद्धि, वैराग्य, जाग्रत, स्वप्न, सुसुप्ति जैसी तीनों अवस्थाओं और सत, रज और तम तीनों गुणों को समेकित करके, मदादि दोषों को भस्म करना पड़ता है। इस प्रकार प्रज्ज्वलित ज्ञान दीप अनेक दुखो का हर्ता होता है। रंचमात्र की अनवधानता होते ही विषय वासनाओं का प्रबल झोका ज्ञानदीप को बुझा देता है। किन्तु भक्ति मणि स्वयं प्रकाश्य है। स्त्री स्वरूपा और मायापति की परमप्रिय पटरानी होने के कारण भक्ति पर माया का कोई बल नहीं चलता। भक्ति मणि के शाश्वत प्रकाश में समस्त अविद्याओं

का विनाश स्वयमेव हो जाता है। गोस्वामी जी कहते हैं—

राम भगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहु ताके॥

ध्यातव्य है कि गोस्वामी जी ज्ञानमार्ग अथवा कर्ममार्ग के विरोधी नहीं है। वे स्वीकार करते हैं कि

भगतिहि ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भवसंभव खेदा॥

कर्म मार्ग भी प्रत्येक स्थिति में उपादेय होता है अन्तर केवल यह है कि गोस्वामी जी की भक्ति को निरूपम और निरूपाधि मानते हैं। माया का उस पर प्रभाव नही पड़ता। इसलिए विज्ञानी मुनि सभी सुखों की खानि भक्ति का वरण करते है। ज्ञान और कर्म भक्ति के साधक उपादान के रूप में ही उपादेय होते हैं— ' ज्ञान पंथ कृपान कैधारा' अथवा 'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद' जैसी उक्तियों में गोस्वामी जी ने ज्ञानपंथ की संकटापन्नता और दुरूहता को ही रेखांकित किया है।

भक्ति के साधन

गोस्वामी जी भक्ति के साधनों को संख्यातीत मानते हैं। पूर्व विवरण में भागवत और आध्यात्मरामायण मे वर्णित भक्ति साधनों का उल्लेख किया जा चुका है। शबरी भक्तियोग, लक्ष्मण भक्तियोग, वाल्मीकि प्रसंग आदि में वर्णित भक्ति साधनों की चर्चा की जा चुकी है। वस्तुतः गोस्वामी जी ने 'नाना पुराण निगमागम' प्रतिपादित भक्ति साधनों को समन्वित रूप में ग्रहण किया। उन्होंने विहित अविहित और कृपा तीनों प्रकार के साधनों पर बल दिया। विहित साधनों के अन्तर्गत भक्तिशास्त्रोक्त साधन आते हैं। गोस्वामी जी का भक्ति पथ 'श्रुति सम्मत' और 'विरति विवेक संयुक्त' है। लक्ष्मण भक्तियोग में शास्त्रसम्मत साधनों के उपयोग पर बल दिया गया है। विनय पत्रिका मे गोस्वामी जी ने योग को परम भक्ति का साधन माना है। जो योगी अखण्ड समाधि मे लीन होता है 'सोइ हरिपद अनुभवै परमसुख अतिसय द्वैत वियोगी।' *भागवत* वर्णित नवधा भक्ति का पूर्ण विवरण तुलसीदास की कृतियो में अनेक स्थानों और अनेक सन्दर्भो में किया गया है। जो हरिकथा नहीं सुनते उनके कान सर्प की मॉद के समान हैं, जो जिह्वा हरिगुणगान नहीं करती वह मेढ़क की जीभ के समान है, जिसके हृदय में ईश्वर की भक्ति का निवास नहीं होता वह जीवित होने पर भी शव के समान है। 'जनम जनम रति रामपद यह वरदान न आनु', जैसी उक्तियॉ, राम, शिव, पार्वती आदि की पूजा और आरती का विधान, *विनय पत्रिका* और *रामचरितमानस* की विभिन्न स्तुतियॉ, सुग्रीव और विभीषण के प्रति सख्यभाव 'मैं सेवक रघुपति पति मोरे'

की दास्य वृत्ति, 'जानकीनाथ के हाथ विकाने' का समर्पण पूर्ण निवेदन से श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, सख्य दास्य और आत्मनिवेदन का उदाहरण गोस्वामी जी की कृतियों में मिलता है।

विहित साधन

भगवान में एकनिष्ठभाव से सम्पर्क अनुरक्ति, भक्ति मार्ग के विरोधी तत्त्वों अथवा भक्ति से विमुख व्यक्तियों की वर्जना, भक्ति के आलम्बन भगवान में अटूट विश्वास, परमात्मा की असीम शक्ति और भक्तवत्सलता में विश्वास करके अनन्यभाव से समर्पण अथवा निर्विकल्प भाव से वरण, भक्त की दीनता, हीनता और असमर्थता का निवेदन, मन, वाणी और कर्म से शरणागत होना जैसे साधनों का गोस्वामी जी ने बार-बार उल्लेख किया है। आध्यात्म रामायण के आधार पर गोस्वामी जी ने सत्संग, राम कथा में रति, विनम्रभाव से गुरुपद सेवा, निश्छल भाव से राम का गुणगान, राम मन्त्र का जाप, बहुकर्म विरति और सज्जन धर्म अनुरक्तता, समस्त सृष्टि में राम की व्याप्ति का बोध और राम से अधिक राम-भक्त का सम्मान, यथालाभ सन्तोष और पर दोष विरति, हर्ष और दैन्य से रहित हृदय और सभी के साथ निष्कपट व्यवहार जैसे भक्ति साधनों को गोस्वामी जी ने बलपूर्वक रेखांकित किया है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि वैधी भक्ति के विहित साधनों का उल्लेख गोस्वामी जी की कृतियों में बार-बार किया गया है।

अविहित साधन

भक्ति के अविहित साधनो का आधार भगवान के प्रति रागात्मक भाव होता है। भक्त भगवान को माता, पिता, गुरु, सखा आराध्य आदि रूपों में मानकर अपनी रागात्मक वृत्तियों का उदात्तीकरण करता है। भारतीय सन्दर्भ में आराध्य और आराधक के बहुविध सम्बन्धों की पुरानी परम्परा है। भक्ति की इस प्रणाली से भक्त अपने आराध्य के साथ सामीप्य और आत्मीयता का अनुभव करता है। इस पद्धति में भक्त अपने समस्त लौकिक सम्बन्धों को आराध्य के साथ जोड़ देता है और उन्हीं रागात्मक सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। आत्मीयता और प्रेमतत्त्व की प्रधानता के कारण रागानुगा भक्ति वैधी भक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठतर मानी जाती है।

गोस्वामी जी ने भी राम को गुरु, पितु, मातु, प्रभु, बन्धु, सुहृद सखा आदि मानकर उनकी आराधना की है। शंकर, भवानी, हनुमान जैसे राम भक्तों में भी गोस्वामी जी ने इसी प्रकार की निष्ठा व्यक्त की है। यह रागानुगा भक्ति भगवान

को भी बहुत प्रिय है। गोस्वामी जी के राम स्पष्ट शब्दों में घोषित करते हैं–

जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बांध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाही। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धनु जैसे॥

अनन्य भाव से शरणागत भक्त भगवान के लिए बालक के समान होता है जिसकी रक्षा का दायित्व भगवान पर वत्सल माता की भाँति होता है। बालक तो अंजान है। वह कभी सर्प के साथ खेलने लगता है तो कभी आग में हाथ डाल देता है किन्तु माँ बालक की इन क्रियाओं के दारुण परिणामों से परिचित रहती है इसलिए निरन्तर बालके अनिष्ट-निवारण के प्रति तत्पर और सावधान बनी रहती है। भक्तवत्सल भगवान की भी यही स्वभाव है। गोस्वाजी जी इसलिए घोषित करते हैं कि 'नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौ।' वे भगवान राम से निवेदन करते हैं–

मोहिं तोहि नाते अनेक मानिये जो भावैं।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावै॥

रागानुगा भक्ति के सन्दर्भ में गोस्वामी जी ने भगवान राम की पावन प्रीति को प्राप्त करने के लिए हर प्रकार के सम्भव सम्बन्धों का संकेत किया है किन्तु सभी प्रकार के सम्बन्धो में सेवक सेव्य सम्बन्ध को वे भक्ति मार्ग की आधारभूमि मानते हैं।

रागानुगा भक्ति के साधनों में भय-रति भी एक साधन है। इसमें भक्त के हृदय में आराध्य के प्रति भक्तिपूर्ण अनुराग रहता है। किन्तु विपरीत आचरण के कारण भय का भाव भी बना रहता है। इस भय के भाव से चित्तद्रुति उत्पन्न होकर रागात्मक अनुबन्ध को दृढ़ करती है। अन्ततः भय का अवरोध दूर हो जाता है और चित्त सात्त्विक होकर भगवान की शरण में समर्पित को जाता है। गोस्वामी जी ने बालि और मारीच को इसी कोटि के भक्तों के रूप में चित्रित किया है। दोनों ही अन्ततः भगवान राम के अनुरक्त होते हैं और उनके आन्तरिक प्रेम को पहचानकर भगवान उन्हें मुनि दुर्लभ गति प्रदान करते हैं।

अविहित साधनों में रति और भय की भाँति द्वेष भी भक्ति का एक स्वीकृत साधन है। भागवत के अनुसार तो द्वेषानुबन्ध द्वारा होने वाली तन्मयता भक्तियोग से भी अधिक श्रेष्ठ होती है। द्वेष के द्वारा भी एकाग्रभाव से मनोनिवेश की स्थिति होती है। दूसरी ओर राम का क्रोध भी मोक्षदायी होता है। गोस्वामी जी इस तथ्य का समर्थन करते हुए लिखते हैं–

निर्बान दायक क्रोध जाकर भगति अवसहिं बसकरी।

रावण इस बात से अवगत है कि 'होइहिं भजन न तामस देहा'। इसलिए रावण वैरभाव का मार्ग अपनाता है। यह निश्चय करता है—'तो मैं जाइ बयरू हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥' द्विजामिस भोगी दानवों ने वैरभाव से ही राम का स्मरण किया था किन्तु कोमलमति करुणानिधान राम ने उन्हें परमगति प्रदान की। रति, भय, काम या स्नेह से उत्पन्न होने वाली भक्ति से द्वेषजा भक्ति की स्थिति भिन्न है। द्वेषभाव और भक्तिभाव का सामंजस्य अथवा द्वेषभाव का भक्तिभाव में रूपान्तरण असम्भव है। इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि भागवतकार ने भी द्वेषता भक्ति की तदाकारता पर ही विशेष बल दिया है।

यथा बैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयताभियात।
न तथा भक्तियोगेन इति में निश्चिता मतिः॥

बैर भाव की उदग्रता के कारण चित्तवृत्तियों का निरुद्ध हो जाना और मनोनिवेश की स्थिति में एकाग्रता का उत्पन्न हो जाना मनोवैज्ञानिक भी है। भक्ति शास्त्रों के अनुसार द्वेषभाव की यह तदाकारता भगवान के अविराम संधान का कारण बनती और अन्ततः मुक्ति प्रदान करती है। इस प्रक्रिया में स्वयं भगवान ही समस्त चित्तवृत्तियों का केन्द्र बन जाते हैं। गोस्वामी जी भी इस अर्थ में द्वेषजा भक्ति को स्वीकार करते हैं। द्वेषभाव की तदाकारता अनुरक्तिकामी न होकर मुक्तिकामी होती है। अतः इस प्रक्रिया का आत्यन्तिक फल मोक्ष ही है जबकि रागानुगा भक्ति का अन्तिम लक्ष्य 'राम-चरण-रति' है। गोस्वामी जी की मान्यता है कि रावण ही नहीं समस्त दानव समूह का मन रामाकार हो जाने के कारण ब्रह्मपद का अधिकारी बना।

रामाकार भये तिन्हके मन। गए ब्रह्मपद तजि सरीर रन॥

दानव समूह की यह रामाकारता निश्चय ही बैरभाव का ही परिणाम थी।

कृपासाधन

ईश्वर की इच्छा से बिना किसी याचना या आग्रह के जो अनुकूलता प्रदान की जाती है उसे कृपा कहा जाता है। भगवान की भक्ति को प्राप्त करने के लिए भगवान की कृपा को आवश्यक माना गया है। यद्यपि इसमें साधक की ओर से कोई निश्चित प्रयास नहीं होता तथापि भक्तिप्रदायिनी होने के कारण इसे साधन रूप में स्वीकार किया जाता है। गोस्वामी जी ने रामकृपा को सर्वोत्तम और सर्वोपरि साधन के रूप में स्वीकार किया है। रामकृपा के साथ ही उसकी प्राप्ति में सहायक भगवान राम के अन्तेवासी सीता, हनुमान, भरत, लक्ष्मण की कृपा, देवकृपा, विप्र

कृपा, आदि का भी गोस्वामी जी ने आख्यान किया है। गोस्वामी जी के अनुसार रामकृपा ही भक्ति प्राप्ति की मूल कारण है। भक्ति मणि इस संसार में रहती है किन्तु 'रामकृपा बिन नहि कोउ लहई' यह भक्ति सभी को मिलती भी नही, 'रामकृपा कोइ एक पाई' इसका कारण यह है कि रामकृपा के बिना राम की प्रभुता का ज्ञान ही नही हो पाता। ज्ञान के अभाव में प्रीति-प्रतीति सम्भव नहीं होती। प्रीति-प्रतीति के अभाव में दृढ़ भक्ति असम्भव है अतः भक्ति का मूल कारण रामकृपा ही है। गोस्वामी जी कहते हैं–

प्रीति बिना नहिं भगति दुढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

गोस्वामी जी के अनुसार मोक्ष के साधन धाम शरीर की प्राप्ति भी रामकृपा से ही होती है। 'रामकृपा नासहिं भव रोगा' रामकृपा भव रोगों को ही दूर नहीं करती, भक्ति के सभी साधनों में सहायक होती है। गोस्वामी जी की मान्यता है कि सत्संग के बिना विवेक सम्भव नहीं होता और सत्संग रामकृपा का ही परिणाम होता है। इसलिए काग भुसुंडि स्पष्ट शब्दो में कहते है–

रामकृपा बिनुसुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥

इतना ही नही

रामकृपा बिनु सपनेहु, जीव न लह विश्राम।

इस सन्दर्भ में विचारणीय है कि यदि कृपाजन्य भक्ति अहेतुक भाव से ईश्वर द्वारा प्रदान की जाती है तो साधक के आचरणमूलक कर्म अथवा दायित्व का महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। दूसरी ओर ईश्वर के विवेक पर भी प्रश्न चिन्ह लग सकता है। यदि कृपा के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाये तो भगवान की कृपा से सभी प्राणियों को समानभाव से भक्ति की प्राप्ति हो जानी चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। गोस्वामी जी स्वयं लिखते हैं–

सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। रामकृपा काहू एक पाई॥

राम कृपा तो किसी बिरले को ही प्राप्त होने वाली वस्तु है अतः यह व्यक्तिपरक अपवादात्मक मार्ग है। इसे सर्वसुलभ सिद्धान्त के रूप मे प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। कार्य-कारण योग अथवा कर्मचक्र सिद्धान्त के अनुसार कर्म और फल में अटूट सम्बन्ध होता है। इसलिए हमारे शास्त्रों में क्रिया धर्म पर अत्यधिक बल दिया गया है। गोस्वामी जी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं करते। यह स्थापित करते हुए भी कि 'कारण बिन रघुवीर कृपाला' वे क्रिया-धर्म की प्रतिष्ठा करते है। उनकी मान्यता है कि जीवन में आने वाली शुभ-अशुभ, सुख-दुःख की स्थितियाँ कर्मों का ही परिणाम होती है। उनकी स्पष्ट उक्ति है–

कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तल फल चाखा॥

'निजकृत कर्म भोग सब भ्राता' के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने के साथ ही गोस्वामी जी भगवान राम को भी 'सुभ अरू असुभ करम फल दाता' के रूप में घोषित करते हैं। इस विमर्श से यह स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी राम-भक्ति को कृपा और क्रिया दोनों अथवा कृपा और क्रिया के समन्वित रूप से साध्य मानते हैं।

वस्तुतः राम कृपा और भक्त की साधनात्मक क्रिया मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। छल-कपट से युक्त, दुष्ट हृदयवाला व्यक्ति तो भगवान के समीप जाता ही नहीं। यदि जाता है तो उसका उसी प्रकार विनाश हो जाता है जैसे आग के पास हिम का अथवा भगवान शिव के पास कामदेव का। कोई पापी राम कृपा का पात्र तभी बनता है जब निष्कलुष हृदय से और अनन्य भाव से शरणागत होता है। ईश्वर प्राणियों को जो साधन प्रदान करता है वह उसकी अहैतुकी कृपा है किन्तु उन साधनों का सदुपयोग करना, उनके द्वारा स्वय को रामकृपा का पात्र बनाना क्रिया धर्म पर ही अवलम्बित रहता है। गोस्वामी जी की कृतियों में इसी मत का पोषण हुआ है। गोस्वामी जी ने राम के चरणों में स्थान पाने के लिए राम की शक्तिस्वरूप जानकी, राम के प्रिय सेवक हनुमान, भरत, लक्ष्मण शत्रुघ्न की कृपा के लिए प्रार्थनाएँ की हैं। साथ ही शिव, पार्वती, गणेश, सरस्वती, शुकदेव, नारद की भी वन्दना करके 'राम-पद-नेह' के निबाह की कामना की है। यह शास्त्रोक्त पुरुषकार कृपा का स्वरूप है। गोस्वामी जी ने अनेक स्थानो पर गुरु महिमा का आख्यान करते हुए गुरुकृपा के महत्त्व को रेखांकित किया है। वे मानते हैं–

सकल सुमंगल मूल जग, गुरु पद पंकज रेनु,
गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष विभंजन॥

गुरु कृपा की भाँति गोस्वामी जी सन्तकृपा को भी अत्यधिक महत्त्व देते है। वे सन्त और भगवन्त में अभेद की स्थिति देखते हैं। उनका कथन है–

संत भगवंत अन्तर निरन्तर नहीं किमपि मति मलिन कह दास तुलसी।

भगवान राम नवधा भक्ति का विवेचन करते हुए सन्तों को स्वयं से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करते हैं। (ता ते अधिक संत करि लेखा) क्योंकि सन्तो की सहायता के बिना हरिभक्ति की प्राप्ति नहीं होती। राम स्वीकार करते हैं कि वे सन्तो के लिए ही अवतार लेते हैं। इसीलिए गोस्वामी जी अपनी उत्कट इच्छा व्यक्त करते हुए कहते हैं–

कबहुक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहौंगो।

हमारे देश में असंख्य देवी-देवता है। भारतीय संस्कृति में अनेकता में एकता स्थापित करने की प्राचीन परम्परा रही है। सामंजस्य के अभाव में साम्प्रदायिक संघर्षो और संकीर्ण मनोवृत्तियों के पनपने का खतरा निरन्तर बना रहता है। गोस्वामी जी स्वभाव से समन्वयवादी थे इसलिए उन्होंने स्वयं स्मार्त वैष्णव और भगवान राम के अनन्य उपासक होने पर भी गणेश, शिव, भवानी, सूर्य आदि देवताओं की आदरपूर्वक प्रार्थना करके उनसे रामभक्ति का वरदान माँगा। उनकी इस प्रवृत्ति मे देवकृपा के प्रति आस्था और सम्मान का भाव प्रमाणित होता है। गोस्वामी जी ने विप्रकृता को भी बहुत महत्त्व दिया है। वर्णाश्रम धर्म के समर्थक गोस्वामी जी रामभक्ति के लिए विप्रकृपा को आवश्यक मानते थे। जिस 'श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ' के वे समर्थक थे, ब्राह्मण द्वेषी उसका प्रतिवाद कर रहे थे। यह गोस्वामी जी के लिए कष्टकर था। किन्तु इससे यह अर्थ नही लगाना चाहिये कि वे सकीर्ण अर्थ में जातिवादी या साम्प्रदायिक थे। *महाभारत* में ब्राह्मण के जिन गुणों का रेखांकन किया गया है, वे है सत्य, दान क्षमा, शील, ऋजुता, तप और दया। भक्ति चन्द्रिका में भी ब्राह्मण के इन्हीं गुणों का आख्यान किया गया है।

सत्यं दानं क्षमा शीलमार्जवच्च तपोधृणा।
दृश्यन्ते यत्र राजेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

गोस्वामी जी भी ब्राह्मण में इन्ही गुणों की अपेक्षा करते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति की कृपा निश्चय ही राम भक्ति की प्राप्ति में सहायक होगी। स्मरण रहे कि उन्होने जातिगत सकीर्णता, कुल के बड़प्पन, साम्प्रदायिक भेदभाव और आचरणमूलक दुर्बलताओं की कठोर शब्दो में भर्त्सना की है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने भक्ति के विहित, अविहित और कृपा साधनों को पारम्परिक मान्यताओं के अनुसार ग्रहण किया है किन्तु उनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उनकी दृष्टि इस दिशा में भी समन्वयवादी और जनोन्मुखी रही है।

दार्शनिक मत

गोस्वामीजी की दार्शनिक दृष्टि के सम्बन्ध में मुख्यरूप से दो मतों का उल्लेख किया जाता है। कुछ विद्वान उन्हें अद्वैतवादी सिद्ध करते है और कुछ विशिष्टाद्वैतवादी। दोनों हीं खेमों के लोग अपनी ओर से सबल तर्क प्रस्तुत करते हैं। इस विवाद से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत दोनों की विशेषताएँ गोस्वामी जी में उपलब्ध हैं। अर्थात् वे न तो किसी सम्प्रदाय के विरोधी थे और न ही अनुकर्ता। गोस्वामी जी अद्वैत में

लोकमर्यादा के अभाव और विशिष्टाद्वैत में साम्प्रदायिकता की सम्भावना से परिचित थे। दोनों ही दृष्टियाँ एकांगी रूप में अधूरी थी। गोस्वामी जी तत्त्वदर्शी भक्त और लोकमंगल के समर्थक थे इसलिए 'सोऽहं' और 'दासोऽहं' का विवाद उनके लिए निरर्थक था। उन्होंने शंकराचार्य के परमार्थिक और रामानुजाचार्य के व्यावहारिक दृष्टिकोणों का समन्वित रूप से उपयोग किया। आरोपित तर्कों के आधार पर उन्हें किसी सम्प्रदाय विशेष के भीतर घसीटना इसलिए भी अनुचित है कि वे किसी भी रूप में साम्प्रदायिक नहीं थे। इस दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत सर्वथा ग्राह्य और प्रामाणिक प्रतीत होता है। उनके अनुसार, "परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है परन्तु भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते है।" दार्शनिक मत की दृष्टि से गोस्वामी जी रामानन्द की समन्वयवादी दृष्टि के अधिक निकट पड़ते हैं।

गोस्वामी जी ने ब्रह्म-जीवन, माया-मोक्ष जैसे तात्त्विक विषयों पर भी अपना मत प्रकट किया है। यहाँ पर उनका संक्षिप्त उल्लेख अनुपयुक्त न होगा।

ब्रह्म और जीव

गोस्वामी जी ब्रह्म को सर्वव्याप्त, स्वरूप, सर्वाधार सर्वशक्तिमान, और नित्य परमानन्द स्वरूप मानते हैं। ब्रह्म स्वयं में पूर्ण, स्वतन्त्र, जीव-जगत की स्थिति और काल-कर्म का नियन्ता तथा सचालक है। वह अखण्ड है, अंशी है और माया का प्रेरक तथा स्वामी है। ब्रह्म परम विज्ञानी और मोक्ष प्रदाता है। गोस्वामी जी के राम इसी व्यापक, अलख, अनीह ब्रह्म के विग्रह हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं—

ज्ञान अखण्ड एक सीता वर। माया बस्य जीव सचराचर ॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥

गोस्वामी जी ने अपनी भक्ति पद्धति में निर्गुण और सगुण ब्रह्म के भेद को मिटाने का प्रयास किया। उनके अनुसार अलख, अनीह, अरूप और अह ब्रह्म ही भक्तों के प्रेम के वशीभूत जगदोद्धार के लिए अवतार लेता है और मायातीत होकर लीला करता है। तुलसी के राम इसी प्रकार के अवतार है। गोस्वामी जी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहि श्रुति पुरान मुनि वेदा ॥' इस ब्रह्म निरूपण में भी गोस्वामी जी की समन्वय दृष्टि ही कारणीभूत है। नित्य और परमानन्द स्वरूप होने के साथ ही ब्रह्म गुणातीत, गोतीत, अनुभवगम्य, अमल, विकारहीन और सभी प्रकार के सुखों की राशि है। गोस्वामी जी ब्रह्म का लक्षण निरूपित करते हुए लिखते हैं—

अज अद्वैत अगुन हृदयेसा ॥

अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य अखंड अनूपा ॥

मन गोतीत अमल अविनासी। निरविकार निरवधि सुखरासी ॥

जीव को गोस्वामी जी ने अनेक स्थलों पर और अनेक रूपों में व्याख्यायित किया है। उनके अनुसार जीव ईश्वर का अंश है। वह माया से प्रेरित और उसके वशीभूत होकर 'काल कर्म सुझाव गुन' के घेरे में घिर जाता है। परिणामस्वरूप अज्ञान विषाद आदि से युक्त होकर अपनी सीमाओं में विवश हो जाता है। उसकी स्थिति और गति ईश्वराधीन होती है। जीव ईश्वर का ही नित्य प्रतिबिम्ब है। जीव अपने कर्मफल के अनुसार विभिन्न योनियों में शरीर धारण करता है। शास्त्रों में जीवो के त्रिविध शरीरों का उल्लेख किया गया है—कारण शरीर और स्थूल शरीर, विनय पत्रिका और रामचरितमानस में गोस्वामी जी ने इन शरीर प्रकारों और उनकी प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन किया है। गोस्वामी जी की मान्यता है कि जो जीव समस्त संसार को ईश्वरमय देखता है तो उसकी वासनाओं का सहज रूप से उदात्तीकरण हो जाता है किन्तु बुद्धि अहंकार, चित्त और मन के मायालिप्त होने पर 'मैं अरू मोर/तोर तैं माया' की भेद बुद्धि उत्पन्न होती है। मैं के बोध से जन्म लेने वाला अहंकार चित्तवृत्ति का क्षरण करता है। गोस्वामी जी लिखते हैं—

दीप निज बोधगम क्रोध मद मोह तम प्रौढ़ अभिमान चित्तवृत्ति छीजै ॥

काम, क्रोध, मद, लोभ और मत्सर जीव के विनाश के कारण बनते हैं।

विभिन्न आधारों पर जीवों के अनेक प्रकार के भेद किये गये हैं। उत्पत्ति के आधार पर जरायुज, अंडज स्वेदज और उद्भिज चार भेद किये गये हैं। स्थान की दृष्टि से जलचर, थलचर, और नभचर तीन भेद किये गये हैं। अवस्था के अनुसार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय जीव की चार अवस्थाओं को मान्यता दी गयी है। यह जीव अपने कर्मफल के अनुसार दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से संतप्त होता है। गोस्वामी जी ने पुरुषार्थ, ज्ञान, साधना, प्रवृत्ति आदि के आधार पर भी जीव की कोटियाँ और कक्षाएँ निश्चित की हैं। किन्तु जो स्थिति प्रत्येक दशा में विद्यमान रहती है, वह है—

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी ॥

सो मायाबस भयउ गोसाई। बँधेउ कीर मरकट की नाई ॥

ब्रह्म और जीव में अंशी और अंश का नित्य सम्बन्ध है किन्तु माया उनमें विलगाव का भाव पैदा करके जीव को भटकाती है और उनके बन्धनो का निर्माण करती है।

माया

माया का स्वरूप निरूपण करते हुए गोस्वामी जी लिखते है–

मैं अरू मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मनु जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

यह माया ब्रह्म की ही शक्ति है। माया की शक्ति असीम है। इस दृश्यमान जगत का व्यापक विस्तार माया का परिणाम है। माया का वैशिष्ट्य यह है कि उसमे विद्या और अविद्या दोनों शक्तियॉं वर्तमान रहती हैं। विद्या के द्वारा माया विवर्त रचना का विधान करती है और अविद्या के द्वारा अपनी असत रचना में सत्य प्रतीति की स्थापना करती है। गोस्वामी जी स्पष्ट करते है–

जासु सत्यता से जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

माया, चिरसंगी ब्रह्म और जीव के बीच व्यवच्छेदक तत्त्व होकर उपस्थित होती है। वह जीवन के असत आकर्षणों में सत्याभाषा उत्पन्न करके जीवों के वासनात्मक विकारों को प्रेरित और पोषित करती है। माया की सत्ता एक ऐन्द्रजालिक सत्ता है जिससे बचने का एक मात्र उपाय है इस इन्द्रजाल के प्रेरक भगवान राम की कृपा। गोस्वामी जी लिखते हैं–

सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला।
जापर होइ सो नट अनुकूला॥

मोक्ष

गोस्वामी जी मोक्ष को सभी सुखों की खानि मानते हैं–"मोक्ष सकल सुख खानि।" मोक्ष अथवा मुक्ति को शास्त्रों में दो रूपों में विवेचित किया गया है–जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति। विदेह मुक्ति के भी चार प्रकार हैं–सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य। ईश्वर के निरन्तर सानिध्य में स्वर्गलोक में निवास सालोक्य मुक्ति, अनुचररूप में समान रूप धारण करना 'सारूप्यमुक्ति', समीप रहकर निरन्तर सेवा में लीन रहना सामीप्यमुक्ति और भगवान के साथ तदाकार होकर ऐश्वर्य भोग सायुज्य मुक्ति है। एकाध अपवादात्मक प्रसंगों को छोड़कर गोस्वामी जी ने मुक्ति के भेदों की चर्चा नहीं की है किन्तु उनकी कृतियों में सभी प्रकार की मुक्तियों और विभिन्न प्रकार की मुक्तियों के आकांक्षी व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है। जीवन मुक्ति के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट कथन है–

बिनु विराग जप जाग जोग-व्रत बिन तप बिनु तनु त्यागे।
सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभु पद प्रयाग अनुरागे॥

गोस्वामी जी जीवन मुक्ति और विदेहमुक्ति के भेदों-प्रभेदों में न उलझकर मुक्ति

की फलात्मक परिणति के पक्षधर हैं। मोक्ष के लिए वे ज्ञान को आवश्यक मानते हैं "ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना" में उनका अटूट विश्वास है ज्ञान के प्रचंड प्रकाश में ही माया जनित भेदों और भ्रमों का विनाश होता है। ज्ञान के लिए योग, वैराग्य, सत्सग और सद्गुरु की आवश्यकता होती है। ज्ञानी ही भगवान का प्रौढ़ तनय है। किन्तु गोस्वामी जी ज्ञान को मोक्ष का उत्तम साधन स्वीकार करने पर भी उसकी चरम परिणति रामप्रेम में देखना चाहते हैं। मानव जीवन और विभिन्न साधना-सरणियों की चरम सार्थकता राम-प्रेम मे ही सिद्ध होती है। उनका स्पष्ट मत है—

जोग कुजोग ग्यान अग्यानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥

इसीलिए गोस्वामी जी "राम-चरण रति" को मोक्ष की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर मानते हैं।

गोस्वामी जी का भक्ति दर्शन विधि-निषेध विरहित, परम्परा पोषित, सम्प्रदायमुक्त, सुशृखलित, श्रुतिसम्मत दृष्टि पर आधारित है। यह कि सी दृष्टि विशेष के अन्धानुकरण अथवा तर्कातीत समर्थन के स्थान पर विभिन्न दर्शनों के सर्वोत्तम सिद्धान्तों का सम्यक समन्वय है। इसमें शंकराचार्य के अद्वैत और रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तों का ही नहीं निम्बार्क, मध्य, चैतन्य के सिद्धान्तों का भी सम्यक् समन्वय लक्षणीय है। बौद्धों और जैनों की अहिंसा, शाक्तों का जप, योगियों का संयम और निर्गुणियों का नाम महात्म्य भी सम्मिलित है। परवर्ती काल में भी लोक सेवा और भक्ति तथा संस्कृति के प्रति समर्पित लोगों ने गोस्वामी जी की व्यापक दृष्टि से प्रेरणा ली। मानव-कल्याण, मानवीय करुणा और मानव मूल्य की व्यापक भूमि पर आधारित होने के कारण गोस्वामी जी का भक्ति दर्शन विश्वदर्शन के रूप में लोकप्रिय हुआ।

गोस्वामी जी के भक्तिदर्शन में हृदयपक्ष और बुद्धिपक्ष का मणि-काचन योग है। यही कारण है, कि गोस्वामी जी की भक्ति पद्धति मे तर्क और श्रद्धाभाव तथा विरक्ति और आसक्ति में विवेक सम्मत सानुपातिक समन्वय स्थापित किया गया है। पाप-ताप-संयुक्त सस्कृति-चक्र से मुक्ति पाने के लिए 'श्रुतिसम्मत और विरति-विवेक से युक्त' भक्ति को उन्होंने सर्वोत्तम साधन माना है। धर्म साधना में गोस्वामी जी ने अनुष्ठान धर्मी बाह्य साधनों के स्थान पर नाम जप के महामन्त्र पर बल दिया जो सहज ही सर्वसुलभ है और कलियुग उद्धार का एक मात्र आधार है। इतना ही नहीं,

स्वपच सबर खस जनम जड़ पॉवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात॥

गोस्वामी जी का भक्ति दर्शन लोक सेवा और लोक कल्याण की भूमि पर आधारित है। वस्तुतः उनके लिए लोक सेवा ही सच्ची राम सेवा है। 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई' कहकर उन्होंने अपनी लोक ससक्ति को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है। इतना ही नहीं वे परलोक की काल्पनिक मुक्ति के स्थान पर इहलोक की उदात्त सिद्धि और सार्थकता प्रदान करने वाली भक्ति पर बल देते हैं और भक्ति माधुर्य के आस्वाद को ही चरम लक्ष्य मानते है। व्यापक दृष्टि, लोकमंगल की भावना, मानवीय संसक्ति, नीर-क्षीर, विवेक, युगबोध की संपृक्ति और सहजता जैसे गुणों के कारण गोस्वामी जी का भक्ति दर्शन आज भी वैश्विक स्तर पर लोकप्रिय है।

7

प्रासंगिकता

अनेक साहित्यिक कृतियॉ काल विशेष की भावसम्वेदना में सीमित होने के कारण कालगत विशेषताओं के समाप्त होते ही अप्रासगिक हो जाती हैं। इनके शीघ्र कालबाह्य होने का मुख्य कारण होता है, रचनाकार का सीमित अनुभव-विश्व, शाश्वत जीवन मूल्यों से अपरिचय, सन्तुलित चिन्तन का अभाव और इतिहास बोध का अज्ञान। किन्तु कुछ कृतियॉ अपनी आन्तरिक समृद्धि और अभिव्यक्ति सामर्थ्य में इतनी महान होती है कि प्रत्येक युग में अपनी प्रासंगिकता को सिद्ध कर देती है। ऐसी कृतियाँ काल के दुर्दम थपेड़ो को चुनौती देती हुई कालजयी बन जाती हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और तुलसीदास इसी कोटि के रचनाकार हैं। उनकी कृतियों मे प्रत्येक युग का व्यक्ति अपनी समकालीन मानसिकता और पारिवेशिक स्थिति के अनुसार काव्यार्थ का सन्धान कर लेता है। इन कवियों का व्यक्तित्व व्यापक विश्वबोध, गहन संवेदनशीलता, उदात्त मानवीय मूल्यों, अकम्प निष्ठा, मानव मन की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सरणियों के ज्ञान, मानव के उत्थान-पतन की वस्तुनिष्ठ इतिहास चेतना, विश्व मानव के प्रति कल्याण के भाव और मानवीय ससक्ति से समृद्ध होने के कारण उनकी मनीषा ऋषियो की भॉति क्रान्तदर्शी और आप्त सत्य की प्रत्यक्षदर्शी हो जाती है। तात्कालिकता उनके लिए केवल प्रेरणा का काम करती है। किन्तु जिस जीवन-सत्य का वे उद्‌घाटन या निरूपण करते है वह सार्वकालिक सत्य के रूप में अभिव्यक्त होता है।

गोस्वामी तुलसीदास को इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए लगभग पॉच सौ वर्ष बीत गये। इस सुदीर्घ कालावधि में जाने कितने प्रिय-अप्रिय प्रसंग घटित हुए। अनेक शासन बदले, अनेक आन्दोलन चलाये गये, समाज, संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में कितनी नूतन उद्‌भावनाएँ प्रस्तावित हुई, अनेक संस्कृतियों से हमारा सम्पर्क हुआ, विज्ञान की खोजों और अविष्कारों ने असंख्य चमत्कार दिखाये, विश्व के अनेक वैचारिक आन्दोलनों ने आस्तिक आस्था को चुनौती दी, आर्थिक सामाजिक,

राजनैतिक, धार्मिक और शैक्षिक क्षेत्रों में अनेक परिवर्तनों का प्रस्ताव किया गया। राजतन्त्रीय व्यवस्था से हम जनतन्त्रीय व्यवस्था में आ गये। किन्तु गोस्वामी जी की कृतियों की प्रासंगिकता अक्षुण्ण बनी हुई है। धर्माध्यात्म के तात्त्विक प्रश्नों से लेकर जीवन के नितान्त व्यावहारिक प्रश्नों तक गोस्वामी जी की उक्तियों को अकाट्य प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह भी लक्षणीय है कि गोस्वामी जी के पश्चात् सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक स्तर पर जो भी आन्दोलन चलाये गये उन सभी में किसी-न-किसी रूप में गोस्वामी जी की स्थापनाएँ कारणीभूत थी। यहाँ तक कि राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी ने भी जब अपने देश की आदर्श शासन व्यवस्था पर विचार किया तो उन्हें भी रामराज्य की कल्पना ही सर्वाधिक परिपूर्ण और सार्थक लगी। रामराज्य की यह कल्पना गोस्वामी जी के द्वारा वर्णित रामराज्य के आदर्श पर ही की गयी है। निष्णात तत्त्वज्ञों, राजनेताओं, समाज सुधारकों, आस्तिक भक्तों में ही नहीं उत्तर भारत के अशिक्षित किसानों और श्रमिकों में भी गोस्वामी जी की उक्तियाँ जीवन शैली और शीलाचारिकी के लिए मानक तत्त्व के रूप में उदाहृत की जाती हैं। किसी सारस्वत साधक, भक्त या तत्त्ववेत्ता की प्रासंगिकता का इससे बढ़कर क्या प्रमाण हो सकता है।

तुलसीदास के पूर्व और पश्चात् अनेक भक्त और कवि हो गये। राम-कथा और रामोपासना को उपजीव्य बनाकर अनेक रचनाएँ लिखी गयीं। कृष्णोपासक कवियों की भी बहुत लम्बी तालिका है। किन्तु उनमें से किसी को भी गोस्वामी जी जैसी लोकप्रियता और लोक स्वीकृति नहीं मिल पायी। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इतनी बड़ी ख्याति का अधिकारी कोई नहीं बन पाया। विश्व की अनेक विकसित भाषाओं में और भारत की प्रायः सभी भाषाओं गोस्वामी जी की कृतियों का विपुल अनुवाद भी तुलसीदास की लोकप्रियता का प्रमाण है। भारतीय और विदेशी मनीषियों द्वारा की गयी गोस्वामी जी की आदरास्पद प्रशंसा भी उनकी असीम कीर्ति और सम्मानित लोकप्रियता का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती है। यहाँ पर गोस्वामी जी की प्रासंगिकता के कुछ प्रमुख आधार बिन्दुओं का रेखांकन ही हमारा अभीष्ट है।

प्रासंगिकता के आधार बिन्दु

(1) **समन्वयवादी समग्र दृष्टि :** गोस्वामी जी अपने जीवन-काल में ही स्वीकृत और सम्मानित हो गये थे। किन्तु उन्होंने अपने किसी सम्प्रदाय का आरम्भ नही किया। अपना कोई निजी मत प्रस्तावित करने के स्थान पर उन्होंने 'श्रुति-संमत-हरि भक्ति-पथ' का आग्रह किया। उनके 'श्रुति-सम्मत' में स्वाभाविक रूप से

'नानापुराणनिगमागम' के मतों का सम्मान और समर्थन था। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बाकाचार्य, चैतन्यमहाप्रभु, बल्लभाचार्य के मतों को संगृहीत और समन्वित करके उन्होंने भक्ति का राजमार्ग प्रशस्त किया था। गोस्वामी जी वस्तुतः लोक-कल्याण और लोकोद्धार के प्रति समर्पित और संकल्पित थे। इसलिए विवादों को मिटाकर वे एक रचनात्मक भूमि प्रशस्त करना चाहते थे जहाँ व्यक्ति अपने वास्तविक कल्याण की ओर प्रस्थान कर सके।

सगुण और निर्गुण भक्ति का विवाद भी उन्हें स्वीकार नहीं था। वेद-निन्दक निर्गुणियों को फटकारते हुए उन्होंने निर्गुण और सगुण में अभेद की स्थापना की। इसी प्रकार शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य आदि के बीच पनपनेवाले विवादों को मिटाने के लिए उन्होंने सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित करने का उपक्रम किया। राम के अनन्य भक्त होने के बावजूद उन्होंने गणेश, सूर्य, शिव, पार्वती, हनुमानजी की उपासना की। शिव और विष्णु को अभिन्न ही नहीं, एक को प्रसन्न करने के लिए दूसरे का प्रसन्न होना आवश्यक बताया। गोस्वामी जी ने स्थापित किया कि शिवद्रोही राम का भक्त नहीं हो सकता और राम का द्रोही शिवभक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। विभिन्न सम्प्रदायों के उपास्य देवताओं में अभेद और अविरोध की स्थिति स्थापित करके गोस्वामी जी ने आचरणमूलक व्यापक दृष्टिकोण की स्थापना की। प्रवृत्ति और निवृत्ति की अतिरेकी स्थिति को भी उन्होंने अस्वीकार किया। उन्हें इस बात का ध्यान था कि निवृत्ति मार्ग की आत्यन्तिक स्वीकृति से सभी आश्रमों की आधारभूमि गार्हस्थ आश्रम की अवहेलना होगी और प्रवृत्ति-पथ के आत्यन्तिक अनुसरण से विषयासक्ति की प्रबलता होगी। इसलिए उन्होंने व्यावहारिक मध्यमार्ग का प्रस्ताव किया। उनका मत है—

घर कीन्हें घर जात है घर राखे घर जाइ।
तुलसी घर बन बीची ही राम प्रेम पुर छाइ ॥

इस दोहे में घर शब्द का प्रयोग इह लोक और परलोक के अर्थ में हुआ है। वन का अभिप्राय है लोक से आत्यन्तिक निवृत्ति। दोनों ही स्थितियाँ अपने अतिवादी रूप में अपूर्ण है। दास्य भाव से भगवान राम के ऐश्वर्य रूप की उपासना के लिए एकांगी नहीं समष्टिवादी समन्वित दृष्टि की आवश्यकता है। अतः गोस्वामी जी प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वित रूप का ही समर्थन देते हैं।

जीवन-विकास के प्रगतिशील पथ के अवरोधक तत्त्वों की गोस्वामी जी ने कड़े शब्दों में भर्त्सना की। उन्होंने 'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग' ही नहीं कहा अपितु अवैदिक रीति से भक्ति का निरूपण करने वाले निर्गुण पन्थियों सूफियों के सम्बन्ध में भी उन्होंने कहा—

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपति भगत कलि, निंदनि वेद पुरान॥

कलियुग वर्णन में गोस्वामी जी ने अनेक पन्थों की कल्पना करने वाले व्यक्तियों और अन्धविश्वास से ग्रस्त अनेक प्रकार की मनौतियो और अनुष्ठानों में विश्वास करने वाली जनता की भी निन्दा की।

गोस्वामी जी ने अपने आराध्य राम का जिस व्यापकता और पूर्णता से साक्षात्कार किया उससे उनकी अन्तर्दृष्टि की व्यापकता और समग्रता का प्रत्ययकारी परिचय मिलता है। राम के व्यक्तित्व को उन्होंने जिस समष्टिवादी दृष्टि और समग्रता के साथ रूपायित किया है वह विश्व साहित्य का अन्यतम उदाहरण है। गोस्वामी जी के राम शील, सौन्दर्य और शौर्य के ही नहीं, विश्व मानवता के उदात्ततम मूल्यों के भी साक्षात् विग्रह हैं। उनका बहु आयामी व्यक्तित्व प्रत्येक कोण से परिपूर्ण और प्रेरणास्पद दिखायी पड़ता है। उनमें परात्पर ब्रह्म, सगुण अवतार और मर्यादा पुरुषोत्तम का अद्भुत समन्वय है, लोक और वेद अर्थात् उदात्त ज्ञानात्मक मूल्यों और आचरणगत व्यावहारिक क्रिया-कलापों का मणि-कंचन योग है। इसीलिए 'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी' की स्थिति सम्भव हो पाती है।

सारांशतः कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने भक्ति, दर्शन, समाज, संस्कृति आदि सभी क्षेत्रो में मूल्यवान तत्त्वो को एकत्र करके अपनी समष्टिवादी समन्वित और समग्र दृष्टि को स्थिर किया। इस दृष्टि की मूल प्रेरणा उनकी क्रान्तिदर्शी, नीर-क्षीर विवेकी अन्तदृष्टि थी। उनकी दृष्टि में उन्हीं अवांछित तत्त्वों का निषेध आवश्यक था जिनसे अन्धविश्वास, भ्रान्ति, पाखण्ड, विद्वेष, आडम्बर आतन्क, विभेद, शोषण आदि अमानवीय तत्त्वों के पनपने की आशंका थी। अन्यथा गोस्वामी जी मानव-कल्याण की सभी सार्थक सरणियो के पक्षधर थे। उनकी दृष्टि की रचनात्मक समग्रता के कारण समाज के सभी वर्गो के लोगों का अपने-अपने समाधान सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। आज भी जब सार्थक जीवन की अभिलाषा से कोई सार्थक प्रयास किया जाता है तो गोस्वामी जी की रचनात्मक दृष्टि हमारा सफल मार्गदर्शन करती है। आज जब धर्म निरपेक्ष और समतामूलक समाज की कामना की जा रही है तो गोस्वामी जी की कृतियों की प्रासंगिकता और महत्त्वपूर्ण हो गयी है।

(2) विचारों और भावों की भव्यता : महान आत्माओं से विनिर्गत होने वाले भाव और विचार मानव मात्र के लिए कल्याण प्रद और आदर्श जीवन के प्रेरक होते हैं। उनकी राग-द्वेष-रहित, विवेकशासित मनीषा नाना प्रकार की विसंगतियों

और विपरीतताओं में भी सार्वकालिक और सार्वदेशिक जीवन मूल्यों का सधान करती है। उनके विचारों और भावों में क्षुद्रता और संकीर्णता से विरहित सहज औदात्य होता है। गोस्वामी जी सिद्ध महात्मा थे। उनके विचार और भाव देश, काल और परिस्थिति के प्रतिक्रियात्मक स्वरूप से ऊपर कालातीत उदात्तता से मंडित हैं परिणामस्वरूप उनमें भव्यता का आलोकदीप्त स्वरूप स्वयमेव उपस्थित हो गया है।

गोस्वामी जी के आराध्य भगवान श्रीराम व्यापक ब्रह्म होकर भी लीला तनुधारी मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। उनके अवतार का प्रमुख उद्देश्य है जनमानस मे भव्य भावों और विचारो की प्रतिष्ठा द्वारा आदर्श समाज का संगठन। बाल्यकाल से लेकर जीवन पर्यंत राम उत्कृष्टतम विचारों और भावों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि बाल्यकाल से ही वे कोशलपुरवासी नर-नारियों के लिए प्राणों से भी प्रिय हो गये थे। सेवा भाव से प्रेरित होकर वे विश्वामित्र की यज्ञशाला की रक्षा का भार प्रसन्नता पूर्वक अपने ऊपर लेते हैं। किशोर वय में सारी सुख-सुविधाओं को छोड़कर दुर्दम साहस और आत्मविश्वास के साथ प्रसन्नतापूर्वक कष्टसाध्य परिस्थितियों को अपनाना उनकी मूलभूत दायित्वचेतना और सेवा भाव के कारण ही सम्भव हुआ। जनकपुर की पुष्पवाटिका में सीता को देखकर उत्पन्न रागात्मक संक्षोभ तब असीम भव्यता प्राप्त कर लेता है जब वे अपने अनुज लक्ष्मण से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि कोई रघुवंशी कभी भी कुपथ पर पैर नहीं रखता और—

मोहिं अतिसय प्रतीति निज केरी। जिन्ह सपनेहु परनारि न हेरी॥
सो सब कारन जान विधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता॥

राज्याभिषेक की घोषणा हो जाने पर राम रघुकुल की परम्परा पर जनतन्त्रीय दृष्टि से विचार करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि

विमल वंस यय अनुचित एकू। बंधु विहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

ध्यातव्य है कि उनका यह विचार उस समय उत्पन्न हुआ जब ये स्वयं उस परम्परा से लाभान्वित होने जा रहे थे। अपने-चौदह वर्ष के वनवास के समाचार को सुअवसर और भरत को राजगद्दी प्रदान किये जाने के समाचार को सुअवसर के रूप में स्वीकार करते। "भरत प्राण प्रिय पावहिं 'राजू' का अनुभव उन्हें सुखद लगता है और "पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू" का बोध उनके सन्तोष की वृद्धि करता है। यह वैचारिक सन्तुलन से युक्त भावात्मक दिव्यता अन्यत्र कहाँ मिलेगी ? चित्रकूट की सभा में राम और भरत के विचारों और भावों की दिव्यता हमारी सांस्कृतिक चेतना की महान उपलब्धि है। शबरी के प्रति राम का प्रेमभाव समस्त

प्रचलित लोक रूढ़ियों और मानव निर्मित भेदों को तोड़कर आन्तरिक शुचिता पर आधारित मानवीय अस्मिता और मानवीय सम्बन्धों को भव्य भूमि प्रदान करता है। सुग्रीव और विभीषण की शरणागति सन्दर्भ में मूल्य-निष्ठा और न्याय-निष्ठा का भाव अन्यतम है। ऋषियों की अस्थियों के ढेर को देखकर साश्रुनेत्र हो जाना और 'निसिचरहीन करौ महि भुज उठाइ प्रन कीन' में राम के लोक-रक्षा भाव की झॉकी मिलती है। राम सीता को जिस रूप में अपना प्रेम-सन्देश भेजते है वह अत्यन्त भावपूर्ण और गरिमामय है। इस प्रकार की अनस्फीत और मार्मिक प्रेमानुभूति का उदाहरण शायद ही कहीं मिल सके। राम की उक्ति है–

तत्व प्रेम कर मम अरू तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति बस इतनेहिं माहीं॥

राम के विचारों और भावों की भव्यता का मुख्य कारण है दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रय। हृदय और बुद्धि का सम्यक समन्वय और दोनों का सायुज्य भाव। भावावेश की चरम अवस्था में भी राम अपने वैचारिक सन्तुलित को बनाये रखते हैं। उनका विवेक रंचमात्र के लिए भी कुण्ठित नहीं होता। अपने अभिन्न सहचर और प्राण प्रिय बन्धु लक्ष्मण की मूर्छा के समय राम का विचलित हो जाना स्वाभाविक था। लक्ष्मण के वियोग में वे जीवन की कल्पना नहीं कर सकते थे किन्तु इस चरम विकलता के क्षण में भी उन्हें विभीषण की सम्भावित दुरवस्था और अपने द्वारा दिये गये आश्वासन का स्मरण बना रहता है। वे कहते हैं–

गिरि कानन जइहें साखा मृग हौं पुनि अनुज संहाती।
होइहें कहा विभीषण की गति इहइ सोच भरि छाती॥

राम के विचार और भाव की भव्यता का आधार उनका व्यापक दृष्टिकोण, सीमाहीन उदारता, क्षमाशीलता, शरणागत रक्षा, कर्तव्यनिष्ठा, गहन मानवीय सम्वेदना, लोकोपकार आदि तत्त्वों पर निर्भर है। राम अपने भक्तों, शरणार्थियों अनुचरों और स्वजनों के प्रति ही उदार नहीं है, वे रावण जैसे दुर्विनीत शत्रु के प्रति भी क्षमाशील है। रावण के अक्षम्य दुष्कर्मों को क्षमा करके उसे योगियों के लिए भी दुर्लभ गति प्रदान करते हैं, विभीषण को उसकी अंत्येष्टि क्रिया का आदेश देते हैं। विभीषण का राजतिलक कराकर वे विजयोल्लास के वातावरण में भी प्रतीक्षारत भरत की विकलता का अनुमान करके व्यथित हो जाते हैं और शीघ्रातिशीघ्र अयोध्या पहुँचने का आग्रह करते हैं। उनके विचारों में सन्तुलन की यह स्थिति और भावों में उदात्त गरिमा निरन्तर बनी रहती है। तुलसीदास ने राम के विचारों और भावों की जो भव्यता दिखायी है वह अन्यतम है।

राम के अतिरिक्त कौशल्या, सीता, अनुसूया, शबरी, मन्दोदरी जैसे नारी

पात्रों, हनुमान, भरत, लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण, जटायु जैसे पुरुष पात्रों मे गोस्वामी जी ने जिस भव्यता का सन्निवेश किया है वह वैश्विक स्तर पर विचारों और भावों का चरम आदर्श है। अपनी दिव्यता और भव्यता में वह देशकालातीत हैं। उनका अनुकरण निर्विवाद रूप से प्रत्येक देश और काल में सार्थक जीवन की प्रेरणा बन सकता है। आज के युग मे जब कि वैचारिक संकीर्णता और भावों की प्रदूषित कलुषता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है तब गोस्वामी जी के आदर्श और भी प्रासंगिक हो गये है। जीवन की जिस आचरण मूलक व्यावहारिक शीलाचारिकी के अभाव में आज की बहुविध विडम्बनायें घटित हो रही हैं उनकी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए गोस्वामी जी द्वारा निरूपित भगवान राम का आदर्श मूल्यहीनता की तहीभूत तमिश्रा में दिग्भ्रान्त मानव के लिए आलोक पुज का काम कर सकता है। उपयोगितावादी संस्कृति से उत्पन्न भौतिकतावादी आग्रहो के कारण आज के विश्वमानस की वैचारिक दृष्टि और हार्दिक सम्वेदन में सकोच आ गया है। मानवीय विवेक पर स्वार्थ का शासन बढ़ता जा रहा है। ईर्ष्या द्वेष जैसी विघटनशील मनोवृत्तियाँ निरन्तर विकसित हो रही हैं। ऐसी स्थिति में गोस्वामी जी द्वारा निर्धारित राम अन्य सम्मानित पात्रों का विचार एवं भागवत् आदर्श सर्वथा प्रासंगिक और अनुकरणीय है। इस सम्बन्ध में 'रामायन आव् तुलसीदास' के लेखक ग्राउज़ के विचार उल्लेखनीय है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं–

> "कोई व्यक्ति राम, सीता, भरत, लक्ष्मण को ईश्वर का अवतार माने या न माने परन्तु अपनी भव्य और लोकोत्तर विशेषताओं के कारण ये लोग ईश्वरत्व को प्राप्त हैं और पूज्य है।...इन्हीं की श्रद्धाभक्ति, इन्हीं की पूजा, इन्हीं के सत्कार्यो की शिक्षा से मनुष्य का इहलोक और परलोक में कल्याण सम्भव है।"

(3) **लोकमंगल और विश्वबोध :** गोस्वामी तुलसीदास के साहित्य और विशेष रूप से उनके *रामचरितमानस* की प्रासंगिकता का तीसरा आधार है लोक मंगल की साधना और विश्व बोध। गोस्वामी जी ने घोषित किया है कि वे रघुनाथ गाथा को 'स्वातः सुखाय' और 'स्वान्तस्तमः शान्तये' के उद्देश्य से लिख रहे हैं। किन्तु वे आरम्भिक प्रार्थना में 'मंगल करनि, कलिमल हरनि' रामकथा को अपना प्रतिपाद्य बनाते हैं। प्रश्न उठता है कि 'स्वतः सुखाय' और 'स्वान्तस्तमः शान्तये' का अभिप्राय क्या है ? क्या वास्तव में गोस्वामी जी का लक्ष्य व्यक्तिगत था ? किन्तु किसी सच्चे भक्त या कवि का 'स्व' अपूर्ण, संकुचित और व्यक्ति सीमा में आबद्ध नहीं हो सकता। गोस्वामी जी जैसे महात्मा तो समस्त विश्व के मंगल में ही अपना मंगल अनुभव करते हैं। रामकथा को पहले भगवान शिव ने रचकर

अपने मानस में स्थिर किया था। अर्थात् अपने मानस को रामचरित्र के साथ तदाकार किया था। इसीलिए वे शिवेतर रक्षा और शिवत्व के विधायक बने। अभिप्राय यह है कि जिसके मानस में राम का चरित्र विद्यमान रहेगा वह स्वभावतः विश्वमंगल का आकांक्षी बन जायेगा। साथ ही विश्व के अन्तस् में व्याप्त तम को प्रशमित करेगा। लोकमंगल का विधान सच्चे भक्त और सच्चे कवि दोनों का आत्यन्तिक लक्ष्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है–"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा या निर्वाह होता है।" रागात्मक साधना का जो स्वरूप कविता के लिए आवश्यक है वही भक्ति के लिए भी चरितार्थ होता है। इसीलिए कवि और भक्त का स्वान्तःसुख व्यापक स्तर पर विश्वमंगल में ही निहित रहता है।

गोस्वामी जी मानते है कि रामचरित्र प्रकृत्या मंगलमय है। वह प्राणिमात्र के लिए मंगल का विधायक है। जहाँ कहीं भी रामचरित्र या रामकथा की उपस्थिति होगी उसके प्रभाव से मंगल का ही विधान होगा। यह दूसरी बात है कि इस प्रभाव की मात्रा ग्रहीता की प्रवृत्ति और क्षमता के अनुसार भिन्न होगी। गोस्वामी जी स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं–

रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु ॥

गोस्वामी जी का रामकथा गायन वैश्विक स्तर पर लोकमंगल के विधान का उपक्रम है। उन्होंने राम के आदर्श चरित्र द्वारा जिस मूल्यनिष्ठ जीवन शैली का विधान किया है, वह व्यापक स्तर पर मंगल साधना का उत्कृष्ट उदाहरण है। राम अपने बाल्यकाल से ही वही करते हैं जो लोकहित साधक होता है–'जेहिं विधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपा निधि सोइ संजोगा ॥' किशोर वय में विश्वामित्र की यज्ञशाला की रक्षा, ताड़का वध, मारीच और सुबाहु जैसे दानवों से युद्ध, अहल्या का उद्धार, निराश और दुखी महाराज जनक तथा उनके परिवार के शोकशमन के लिए धनुष तोड़ना आदि क्रियाएँ लोकमंगल की दृष्टि से ही की गयी। वनवास के समय-कोप की अवस्था में भी राम को 'जननी जनक बन्धु-सुखदाता' कहकर सम्बोधित करती है। राम वन में मुनियों से मिलने के अवसर, माता-पिता की आज्ञा के पालन, भरत के राज्याभिषेक को अपने परम कल्याण का सुअवसर मानते हैं। वे कहते हैं–

जो न जाउ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहिं मूढ़ समाजा ॥

जिस कार्य की सम्भावना का संकेत राम दे रहे हैं वह लोकमंगल की साधना

का ही कार्य है। वनगमन के समय केवट के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार, निषाद की मैत्री, ग्रामवासियों में उत्पन्न असीम अनुराग जीवन की मंगलाशा का द्योतक है। बालि की दुरभिसन्धि के साथ निशाचरों के आतंक से पीड़ित मानवता को त्राण देने के लिए सारे अमंगलकारी तत्त्वों को नष्ट करना अनिवार्य हो गया था। इसी उद्देश्य से साधनहीन होकर भी राम ने अमंगलकारी दानवों को विनष्ट करने का प्रण किया। सीता हरण तो बाद मे हुआ, राम-रावण-युद्ध का निश्चय तो पहले ही हो चुका था, राम 'निसिचरहीन करउ महि' का संकल्प पहले ही ले चुके थे। संतप्त ऋषियों को अभयदान देने सुग्रीव और विभीषण को शरणागत करने में भी मंगलविधान का ही भाव है।

गोस्वामी जी ने राम को नित्य मंगलमय और मंगलप्रद रूप में चित्रित किया है। अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्थितियों में राम मंगल के ही प्रेरक बने रहते हैं—'मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मजुलमंगल प्रदा।' उनके व्यक्तित्व में पारसमणि की शक्ति है। सम्पूर्ण वातावरण को मांगलिक प्रभाव से भर देने की लोकोत्तर क्षमता है। उनके मंगलमय रूप के प्रति अयोध्या और जनकपुर के लोग ही नहीं, वन-गमन के समय ग्रामीण स्त्री-पुरुष, आदिवासी आदि भी चुम्बकीय आकर्षण का अनुभव करते हैं, उनके दर्शन से जीवन की चरम सार्थकता का अनुभव करते हैं। खर-दूषण जैसे दुर्दान्त दानव उनकी दानव भगिनी शूपर्णखा के अपमान से कुपित होने पर भी राम के सम्मुख आने पर द्रवीभूत हो जाते हैं। उन्होंने जीवन में पहली बार इस प्रकार का लोकोत्तर रूप देखा। खर-दूषण पर राम का प्रभाव ध्यान देने योग्य है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

यह कितना विलक्षण है कि वध किये जाने पर भी बालि, 'जेहिं जोनि जन्मौ कर्म बल तहँ राम पद अनुरागऊँ' का वरदान माँगता है और उसका पुत्र राम का अनन्य भक्त बनता है। मंदोदरी अपने पति रावण की दुर्दशा का कारण राम विमुखता मानती है और कृपासिन्धु राम की अद्वितीय उदारता के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है। मानव जगत ही नहीं प्राणिमात्र और जड़ प्रकृति में भी राम के व्यक्तित्व का विलक्षण प्रभाव पड़ता है। वहाँ भी अमंगल जनक असत प्रवृत्तियाँ सात्विक और मंगलमय बन जाती हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं—

जाहि निरखि मग सांपिनि बीछी। तजहि मोह मद तापस तीछी॥

सेतुबंध पर राम के आने पर मकर, नक्र, मत्स्य, सर्प जैसे असंख्य जलचर सागर की सतह पर आ गये। उनके परस्पर शत्रुभाव और प्राकृतिक गुण नष्ट हो गये और सभी सुखधाम राम में अनुरक्त होकर परमानन्द का अनुभव करने लगे।

प्रभुहि बिलोकहि टरहि न टारे। मन हरषित सब भये सुखारे॥
तिन्ह की ओट न देखिय बारी। मगन भये हरि रूप निहारी॥

'मंगल भवन अमंगल हारी' चितानन्द भय, करुणायत न सुखधाम राम का मानवी अवतार श्रुति सेतु के निर्माण और जगमंगल के हेतु ही हुआ था।

सत्य संध पालक श्रुति सेतू। रामजनम जगमंगल हेतू॥

राम की शक्ति सीता भी उद्‌भव, स्थिति और संहार का मूल कारण है। उन्हें भी गोस्वामी जी ने 'क्लेशहारिणी' और 'सर्वश्रेयस्करी' अर्थात् अमंगलहारिणी और मंगलविधायिनी शक्ति के रूप में ही चित्रित किया है। भरत का चरित्र भी अपनी पावनता के कारण 'मधुर मंजु मुद मंगल करन' है। बुद्धि विवेक विज्ञान निधान हनुमान का तो अवतार ही राम के कार्य सम्पादन के निमित्त हुआ था। वे तो स्वयं संकटमोचन थे। सीता ने उन्हे 'बल-शील-निधान' होने का आशीर्वाद और राम ने अपनी अति सुखदायिनी अनपायनी भक्ति प्रदान की थी। लक्ष्मण राम से सदा अभिन्न हैं। स्वयं राम कहते हैं—

जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर करहीना॥
अस मम जिवन बन्धु बिनु तोहीं। जौ जड़ दैव जिआवै मोही॥

यहॉ पर स्मरणीय है कि राम के आदर्श चरित्र द्वारा मगल का विधान करना चाहते है वह 'जगमंगल' है और देश कालातीत है राम के सभी प्रिय और सहायक इस मंगल की साधना में सहायक है। अखंड विश्व में असत् वृत्तियों को निर्मूल करके परस्पर प्रेम और सौहार्द पर आधारित उदात्त मानवमूल्यों की प्रतिष्ठा ही राम जन्म का हेतु है। यह विश्वबोध और लोकमंगल विधान कभी भी अप्रासंगिक नहीं होता। आज के आदर्शच्युत और मूल्यहीन वातावरण में गोस्वामी जी का विश्वबोध और लोक मंगल का उदात्त भाव और अधिक मूल्यवान सार्थक हो गया है।

4. मार्मिक रमणीयत्व : काव्यत्व के स्तर पर किसी भी कवि की कसौटी है मार्मिक स्थलों की सच्ची पहचान और सरस अभिव्यक्ति से उसे रमणीय बनाना। कवि की नवोन्मेषशालिनी सृजनशील कारयित्री प्रतिभा की परख इसी से सिद्ध होती है। इसी विशेषता के कारण विभिन्न कालों में अथवा एक ही समय बार-बार पढ़े जाने पर भी रोचक और आकर्षक बनी रहती है। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास जैसे महाकवियों की कृतियों में अधुनातन आकर्षण का आधार यह रमणीयत्व ही है। गोस्वामी जी ने अपनी गहन सम्वेदनशीलता, सृजनात्मक कल्पना और प्रखर प्रतिभा से परम्परा से प्राप्त अथवा अपने द्वारा उद्‌भावित प्रसंगों को इतना मार्मिक और रमणीय बना दिया है कि बार-बार पढ़ने पर भी उनका आकर्षण कम नहीं होता।

गोस्वामी जी ने रामकथा को परम्परा से ग्रहण किया है किन्तु उन्होने अनेक नूतन उद्‌भावनाएँ भी की हैं। प्रसंगों का संकोच-विस्तार भी उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार किया है। अनेक प्रचलित प्रसंगों को उन्होंने छोड़ भी दिया है। किन्तु जो प्रसंग उन्हें अधिक मार्मिक लगे उन्हें अनेक बार दुहराया है। रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली, बरबै आदि में इन प्रसंगों को अलग-अलग ढंग से प्रस्तुत किया गया है किन्तु प्रत्येक स्थल पर वे रोचक और रमणीय हैं बाल लीला, अहल्या उद्धार, पुष्प वाटिका में राम-सीता-मिलन, धनुषयज्ञ, परशुराम-लक्ष्मण-सम्वाद, रामवनवास, निषाद मैत्री, राम-केवट-सम्वाद, चित्रकूट सभा, सीताहरण, राम-वियोग, शबरी-मिलन, बालि-वध, अशोक-वाटिका में सीता, रावण-हनुमान-सम्वाद, रावण-अंगद-सम्वाद, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप, राम-रावण-युद्ध, राम-भरत-मिलन जैसे मार्मिक प्रसंगों को गोस्वामी जी ने इतनी रसात्मक सिद्धि के साथ चित्रित किया है कि आज का सम्वेदनशील पाठक भी उन्हें बार-बार पढता है और भाव-विभोर होकर सम्वित विश्रान्ति प्राप्त करता है। पुष्प वाटिका मिलन, लक्ष्मण परशुराम सम्वाद जैसे अनेक प्रसंग गोस्वामी जी की सर्वथा नूतन उद्‌भावनाएँ हैं, जिनमें निहित मर्मानुभूति की गहनता आज भी पाठकों में प्रसंगानुसार अश्रुपात, मन्दस्मिति और रोमांच की स्थिति उत्पन्न करती है। सरसता या रमणीयत्व साहित्य की सार्वकालिक शक्ति है। गोस्वामी जी का साहित्य इस दृष्टि से अपने आप में एक उदाहरण है।

5. लोक सम्पृक्ति : तुलसीदास लोक के प्रति समर्पित राम-भक्त और कवि शिरोमणि थे। राम कथा के माध्यम से वे लोक में नयी चेतना को उद्दीप्त करके आदर्श जीवन शैली की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। जनमानस के समीप पहुँचने के उद्देश्य से ही उन्होंने लोकभाषा में राम-कथा का प्रणयन किया। वे श्रुतिसम्मत जीवन-पथ के पक्षधर थे किन्तु लोकमत, लोकविश्वास, लोकसंगठन और संस्कृति की चेतना का भी सम्मान करते थे। अपनी रामकथा का परिचय देते हुए वे स्वयं कहते हैं—

सरजू नाम सुमंगलमूला। लोक वेद दुइ मंजुल कूला॥

वेद की ज्ञानात्मक सत्ता को लोक व्यवहार के साथ समन्वित करके आदर्श जीवन सरणियों की प्रतिष्ठा करना गोस्वामी जी का चरम लक्ष्य था। इसीलिए वे कविता को 'सुरसरि सम सबकर हित' करने वाली मानते हैं। लोकमानस में राम के आदर्श को उतारने के लिए ही गोस्वामी जी ने रामलीला का मंचन कराया। काशी के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग प्रसंगों को मंचित करके गोस्वामी जी ने राम कथा को जनता के समीप पहुँचाया। अखाड़ों की स्थापना करके धनुषधारी राम और

हनुमान की पूजा का विधान किया और इस प्रकार युवाशक्ति को संगठित करने का प्रयास किया। लोक में विद्यमान पंडितवर्ग और जन सामान्य दोनों ही उनकी दृष्टि में था। रामलला नहछू जानकी मंगल और पार्वतीमंगल जैसी रचनाएँ लिखी जिससे लोकरुचि का परितोष और संस्कार दोनों सम्भव हो सके।

अपने समय के विशृंखलित एवं अभावग्रस्त समाज को गोस्वामी जी ने समीप से देखा था। सामाजिक विकृति और विसंगतियों के कारणों का बारीकी से अध्ययन किया था। अभावग्रस्त और उपेक्षित लोक जीवन की व्यथा को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा—

किसबी किसानकुल बनिक भिखारी भाट चाकर चपल नट चोर चार चेटकी।
पेट को पढ़त गुन गढ़त चढ़त गिरि अटत गहन बन अहन अखेटकी।
ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।
तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम ही ते आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की ॥

उन्होंने अपने कलियुग वर्णन में लोक जीवन की त्रासद स्थितियों का वर्णन किया है। आर्थिक सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक आधारों पर लोक जीवन को उन्नत बनाने के उद्देश्य से उन्होंने राम के आदर्श को प्रस्तुत करके साम्यभाव की स्थापना का प्रयोग किया जिसमें बैर और विषमता के लिए कोई स्थान नही है। उन्होंने त्रितापों से रहित, दुख-दैन्य से मुक्त मर्यादापूर्ण जीवन शैली की प्रतिष्ठा का प्रयास किया।

आज भी यदि कोई विवेकी पुरुष समाज में सुख-शान्ति की आकांक्षा करेगा तो उसे गोस्वामी जी द्वारा निर्देशित मार्ग ही सर्वोत्तम लगेगा। जिस सामाजिक व्यथाबोध की अभिव्यक्ति गोस्वामी जी की कृति में हुई है, आज की स्थितियॉं उससे भिन्न नहीं है इसलिए उनके द्वारा सुझाये गये मार्ग भी पूर्णतया प्रासंगिक हैं। उनकी लोकदृष्टि, लोक सम्पृक्ति और लोक संसक्ति आज भी हमारे लिए पूर्णतया अनुकरणीय है।

गोस्वामी जी की लोक सम्पृक्ति का यह भी पुष्ट प्रमाण है कि सम्पूर्ण उत्तर भारत का जनमानस उनकी वाणी को आप्त कथन के रूप में स्वीकार करता है और जीवन की समस्याओं का समाधान उन्हें आधार बनाकर खोजता है। आश्चर्य इस बात का है कि पढ़ी-लिखी जनता ही नहीं अनपढ़ ग्रामीण मजदूर किसान भी गोस्वामी जी की पंक्तियों को सर्वस्वीकृत सूक्तियों अथवा लोकोक्तियों के रूप में प्रयुक्त करते हैं। यह भी निर्विवाद है कि वे इन पंक्तियों के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझकर उनका उपयोग करते हैं। यह लोकप्रियता गोस्वामी जी की लोक सम्पृक्ति का ही परिणाम है। कुछ पंक्तियों को उद्धृत करना अनुचित

न होगा जिनका प्रयोग उत्तर भारत में हर कोटि और कक्षा के लोग करते हैं।

सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥
होइ है सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावइ साखा॥
अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ ये कन्या सम चारी॥
इनहि कुदृष्टि विलोकई जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥
निज दुख गिरि सम रज करिजाना। मित्र दुःख रज मेरु समाना॥
बरू भल बास नरककर ताता। दुष्ट संग [illegible] देइ विधाता॥
कोउ नृप होहि हमहिं का हानी। चेरि छोड़ि होउब न रानी॥
जिय विनु देह नदी बिनु वारी। तैसेहिं नाथ पुरुष विना न नारी॥
एक संग नहिं होई भुआलू। हँसब ठठाई फुलाउब गालू।
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहिं मिलइ न कछु संदेहू॥
परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
बिनु सतसंग विवेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥
शुभ अरू अशुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय विचारी॥
मिलत एक दारुन दुख देही। बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं॥
रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाहि बरू वचन न जाई॥
नहि कोउ अस जनमा जग माही। प्रभुता पाई जाहि मद नाही॥
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥
सो जाने जेहि देहु जनाई। जानत तुमहि तुमहि होइ जाई॥
पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुबर भगत जासु सुत होई॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥
करम प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥
सठ सुधरहि सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥

उपर्युक्त पक्तियों की भॉति ही असंख्य पंक्तियाँ है जो जनमानस के साथ एकाकार हो गयी हैं। सभी वर्गो के लोग उन्हें निष्ठापूर्वक आत्यन्तिक अकाट्य रूप में उनका उपयोग करते हैं। अर्थात् लोकमत की दृष्टि से आज गोस्वामी की उक्तियॉ निर्णायक भूमिका निभाती हैं। चाहे रामलीला हो या रामचरितमानस का प्रवचन हजारों की संख्या में लोग उपस्थित होते हैं और गोस्वामी जी द्वारा प्रणीत रामकथा का विभोर होकर आस्वाद लेते हैं।

गयाना, सुरीनाम, त्रिनिडाड जैसे देशों में भारतीय अनुबन्धित मजदूर ही गये थे। जो थोड़े पढ़े-लिखे थे वे *हनुमान चालीसा* और *रामचरितमानस* अपने साथ ले गये थे। एक वृद्ध सज्जन ने बताया था कि छुट्टियों के दिन किसी वृक्ष

की छाया में बैठकर लोग *रामचरितमानस* का सामूहिक पाठ करते थे और भावविभोर होकर अश्रुपात करते थे। अब वहाँ हिन्दी समझने और बोलने वालों की संख्या कम हो रही है किन्तु आज भी वहाँ रामायण गोल (दल) बने हुए है। लोग मानस का सस्वर गायन करते हैं। उनकी प्रतियोगितायें होती हैं। ध्यातव्य है कि ये अनुबन्धित मजदूर पढ़े-लिखे लोग नहीं थे। ये गाँवों के अनपढ़ और अभावग्रस्त मज़दूर थे. किसान थे। एक द्वीप पर रामायण गोल की प्रतियोगिता में जाने का अवसर मिला था। गोल के अगुआ ने टेक उठायी—

धनि तुलसी धनि धनि द्विज देवा,
रचेत रमायन अमृत मेवा।

मेरी आँखे छलछला उठी थीं और गोस्वामी जी के प्रति रोम रोम ऋण का अनुभव कर रहा था। उनका रामचरितमानस सचमुच लोकजीवन की अमृतमयी सजीवनी शक्ति और मानसिक स्वस्थ्य के लिए पौष्टिक मेवा है जो हज़ारों मील दूर भारतीय मूल के लोगों में संजीवनी शक्ति भर रहा है। गयाना, त्रिनिदाद, सुरीनाम ही नहीं फीजी, मारीशस, टोरंटो आदि स्थानों पर बसे भारतीय प्रवासियों में *रामचरितमानस* की प्रतियाँ बड़े पूज्य भाव से रखी गयी हैं। जो लोग पढ़ने में असमर्थ है वे भी यदि पा सकें तो अपने घरों में *रामचरितमानस* रख उसकी पूजा करते हैं। लोकजीवन में गोस्वामी जी की यह व्याप्ति आश्चर्यजनक है।

गोस्वामी जी की लोक सम्पृक्ति उनकी अगाध लोकनिष्ठा का परिणाम थी। उनकी लोकमन की मनोवैज्ञानिक परख इतनी सूक्ष्म थी वे मनुष्य के अन्तस् का कोना-कोना झाँक लेते थे। प्रत्येक अवस्था में मानव हृदय के प्रत्येक स्पन्दन के सहभोक्ता बन जाते थे। समस्त लोक की व्यथा-कथा उनकी अपनी हो जाती थी। लोक चित्त के कुशल पारखी और लोककल्याण के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित होने के कारण गोस्वामी जी लोक चेतना के साथ पूर्णतया तदाकार हो गये थे। यही कारण है कि लोकमन उन्हें अपने बहुत समीप पाता है। विचारकों की उच्च कक्षा में गोस्वामी जी की कृतियों पर ...... दृष्टियों से सहमति-असहमति या विवाद की स्थितियाँ हो सकती हैं किन्तु लोकमन तो आज भी हाथ जोड़कर, आँखें बन्द करके आनन्द विभोर होकर उन्हें श्रवण करता है और आश्चर्य इस बात का है कि जितना अधिक लोग इन कृतियों के समीप जाते है उसी अनुपात में और भी आकृष्ट होते हैं।

6. मानवीय सम्बन्धों का आदर्श रूप : किसी समाज का अथवा राष्ट्र का आदर्श संगठन उसके सदस्यों के परस्पर सम्बन्धों पर निर्भर करता है। इन सम्बन्धों पर ही भौतिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास की स्थितियाँ अवलम्बित रहती

है। गोस्वामी जी ने अपने *रामचरितमानस* में मानवीय सम्बन्धों के हर सम्भव स्वरूप के आदर्श को प्रस्तुत किया है। माता-पिता-पुत्र, भाई-भाई, गुरु-शिष्य, स्वामी सेवक, मित्र, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, भक्त-भगवान, अतिथि-आतिथेय, श्वसुर-जामाता, शिक्षत-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष, तपस्वी-गृहस्थ, ऋषि-मुनि आदि के सम्बन्धों के आदर्श स्वरूप का निरूपण रामचरितमानस में बड़ी सफलता से हुआ है। संयुक्त परिवार व्यवस्था का भी उच्चतम आदर्श प्रस्तुत किया गया है। राम आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श राजा, आदर्श मित्र और आदर्श व्यक्ति का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करते हैं। महाराज दशरथ वचन पालन की प्रतिबद्धता मे पुत्र वियोग से दुःखी होकर प्राण त्याग देते हैं। अन्याय होने पर भी कौशल्या सपत्नी कैकयी से द्वेष नहीं करती, सुमित्रा अपने पुत्र लक्ष्मण को सहर्ष राम की सेवा में प्रस्तुत करती है। भरत राजगद्दी के अधिकारी होकर भी अपनी भायप भक्ति के कारण विरक्त तपस्वी का जीवन बिताते हुए राम के आगमन की प्रतीक्षा करते हैं। राम के वन गमन के समय अयोध्यावासी राम के साथ वन जाने के लिए उद्यत हो जाते हैं। वे निर्णय करते है—

जहँ राम तहँ सकल समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥
चले साथ असमन्त्र दृढ़ाई। सुर दुर्लभ सुख सदन बिहाई॥

राम-प्रेम के वशीभूत आबाल वृद्ध उनके साथ वन जाने को तैयार हो जाते हैं। यह राजाप्रजा के सम्बन्धों की आन्तरिकता का प्रमाण है। केवट के प्रति राम का अनुग्रह, निषाद के साथ मैत्री पूर्ण व्यवहार, अपरिचित ग्राम वासियों की राम के प्रति-प्रीति-प्रतीति सम्वेदनशील हृदय की उदात्त स्थिति का द्योतन करते है। चित्रकूट की सभा में अयोध्या और जनकपुर के राजपरिवार के साथ ही गुरु, मन्त्री, राज्य कर्मचारी और प्रजा-प्रतिनिधि भी उपस्थित है। इस सभा में प्रेम, त्याग, न्याय-निष्ठा, कर्त्तव्यनिष्ठा, सम्वेदनशीलता, उदात्तशीलता आदि पर आधारित मानवीय सम्बन्धों का जो बहुआयामी परिदृश्य प्रस्तुत हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऋषियो के प्रति राम का सेवा भाव, शबरी की भक्ति, जटायु के प्रति राम की कृतज्ञता, सुग्रीव, विभीषण के साथ मैत्री के निर्वाह और हनुमान, अंगद, जामवत, नल-नील आदि से राम के आत्मीय व्यवहार में मानवीय सम्वेदना का उदात्तरूप प्रमाणित होता है।

गोस्वामी जी मानवीय सम्बन्धो को आन्तरिक प्रेम त्याग भावना और शील के आधार पर पुष्ट करने के पक्षधर हैं। भावुकता के आवेग अथवा मोह की भूमि पर स्थिर होने वाले सम्बन्ध में उनका विश्वास नहीं है। महाराज दशरथ को चौथे पक्ष में चार-पुत्र प्राप्त हुए थे। राम उनकी ऑखों के तारे थे किन्तु गुरु वशिष्ठ के समझाने पर उन्होंने राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र की सेवा में प्रस्तुत

कर दिया। महाराज जनक ने चित्रकूट में अपनी पुत्री सीता को तपस्विनी वेश में देखकर पश्चात्ताप नहीं किया। वे सीता की पति-भक्ति और कर्त्तव्य परायणता पर अभिमानपूर्वक कहते हैं—

पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥

राम सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हैं किन्तु माता-पिता, गुरुओं, वरिष्ठों और ऋषियों मुनियो की अनुज्ञा के बिना कुछ नहीं करते, चाहे बचपन की क्रीड़ा हो, जनकपुर में धनुष तोड़ना हो या चित्रकूट की सभा में अपना प्रस्ताव रखना हो। हम अयोध्या की प्रजा के प्रेम का उल्लेख कर चुके हैं, जनकपुर की प्रजा का एक उदाहरण इस दृष्टि से पर्याप्त होगा। धनुष भंग के पश्चात् जनक के दूत महाराज दशरथ के दरबार में गये। उन्होंने यह मंगल समाचार महाराज दशरथ को सुनाया। सारी सभा अनुरक्त हो गयी। महाराज दशरथ दूतों को बहुमूल्य भेंट देने लगे किन्तु दूतों ने कुछ भी स्वीकार नहीं किया।

कहि अनीति मूदहिं काना। धरमु विचारि सबहिं सुख माना।

दूतो के लिए यह अनीति स्वीकार्य न थी। वे वधू पक्ष के दूत थे। सीता उनके लिए पुत्री के समान थीं। उसी भाव से वे वर पक्ष से कुछ भी ग्रहण करने में अनीति और अधर्म का भाव अनुभव कर रहे थे। अभी तक राम-सीता का विवाह नहीं हुआ था किन्तु इससे क्या। सत्य तो यह था कि 'टूटत ही धनु भएउ विवाहू।' इसी प्रकार आन्तरिक सम्बन्धों की बात मानस में बार-बार दुहरायी गयी है।

'मानस' में उन प्रसंगों पात्रों और घटनाओं का भी चित्रण है जहाँ मानवीय सम्बन्धों के विकृत रूप दिखाये गये हैं। पूरा दानव समाज ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ और भोग की प्रवृत्ति का है। बालि और रावण जैसे चरित्र द्वेष, दम्भ, अविवेक और भोग के प्रतीक हैं। सुग्रीव और विभीषण जैसे सगे भाई भी उनसे त्रस्त और आतंकित हैं। किन्तु जहाँ इस प्रकार की अमानवीय स्थितियाँ होती हैं उनके दुखद परिणामों को भी स्पष्टता से रेखाकित किया गया है। इस प्रकार सत और असत् वृत्तियों पर आधारित मानवीय सम्बन्धों की परिणतियों को बड़ी स्पष्टता से रेखांकित किया गया है। गोस्वामी जी ने अपने सभी ग्रन्थों में मानवीय सम्बन्धो के उन्हीं रूपों को बलपूर्वक रेखांकित किया है जो मानव के सर्वागीण उत्थान के लिए उपकारक है। राम तत्कालीन समाज में व्याप्त अन्याय, आतंक, अत्याचार और उत्पीड़न को मिटाने के लिए प्रतिबद्ध हैं वे सुग्रीव और विभीषण को राज्य देकर उनसे किसी भी प्रकार की अपेक्षा नहीं करते। असीम शक्ति और पौरुष से समृद्ध होने पर भी साम्राज्यवादी नीति को नहीं अपनाते। वे मानवतावाद के सर्वोत्तम उदाहरण को अपनाते हैं। वे मानवतावाद के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। भरत,

माता-पिता, गुरु आदि के आदेश और उपदेश की उपेक्षा करके राम को वापस ले आने के लिए चित्रकूट जाते हैं। इसका मुख्य कारण है मानवीय सम्वेदना। वे नहीं चाहते कि उनके कारण राम और सीता वनवास की यातना भोगे। वे राम के स्थान पर जीवन भर वनवास भोगने के लिए तैयार हैं। इस सम्बन्ध की मार्मिकता और उसके निर्वाह की अनिवार्यता को व्यक्त करते हुए भरत कहते हैं—

डरु न मोहि जगकि पोचू। पर लोकहु कर नाहि न सोचू॥
एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहिं लगि भे सियराम दुखारी॥

मानस में मन्थरा का चरित्र लांछित माना जाता है किन्तु वह भी अपनी स्वामिनी के कल्याण की कामना से और कैकयी के प्रति अपनी कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर ही अपनी कूटनीतिक दक्षता का उपयोग करती है। उसकी कूटनीतिज्ञता और वचन चातुरी पर मुग्ध होकर कैकयी भी कह उठती है 'तोहि सम हित न मोर संसारा।'

तुलसीदास ने अपनी कृतियों में मानवीय सम्बन्धों के जिस रचनात्मक और उदात्त रूप को निरूपित किया है वह विश्वमानव के श्रेयधर्मी सार्थक जीवन का आधार स्तम्भ है। जब भी दिग्भ्रान्त मानव को जीवन के उदात्त मूल्यों के आधार पर, मानवतावादी दृष्टि से विश्व बन्धुत्व और विश्वपरिवार की स्थापना की आकाक्षा होगी, गोस्वामी जी के सिद्धान्त आलोक पुंज बनकर दिशा-दर्शन करायेंगे।

धर्माध्यात्म का व्यापक और व्यावहारिक दृष्टिकोण

तुलसीदास ने अपना कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया। वे पन्थ या सम्प्रदाय की परवर्ती परिणतियों से परिचित थे। इसीलिए वे विभिन्न दार्शनिक विवादों या मतवादों में नही उलझे। हिन्दू-मुस्लिम एकता के उपदेशक भी नहीं बने। अपने ज्ञान का डंका बजाते हुए दूसरों के अज्ञान की भर्त्सना भी नहीं की। धर्माध्यात्म पर्यवसायी किसी सिद्धि के लिए अनुष्णन धर्मी विधि- निषेध का विधान भी नहीं किया, किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रचारक भी नहीं बने। उनके लिए धर्म जीवन की वह उदात्त प्रणाली थी जिसमें प्राणिमात्र का कल्याण और मानव मात्र का चरम विकास सम्भव हो सके। धर्म मनीषियों के बीच विवाद का विषय रहा है। इसीलिए महाभारतकार ने 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां' कहा है किन्तु गोस्वामी जी ने शास्त्रों के मन्थन और अपनी प्रखर प्रतिभा से धर्म की एक ऐसी परिभाषा प्रस्तुत की जिसमें विरोध अथवा मतभेद के लिए कोई अवकाश ही नहीं बचा। गोस्वामी जी की दृष्टि में—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

धर्म की इतनी छोटी और सुस्पष्ट परिभाषा विश्व के इतिहास मे शायद ही कहीं उपलब्ध हो किन्तु धारक और धारणीय दोनों दृष्टियों से यह अन्यतम है। 'परहित' धर्माचरण का सर्वोत्तम मानक है। अपनी अर्थगर्भता और व्याप्ति में 'परहित' मानवीय शीलाचारिकी का केन्द्रीय तत्त्व है। जीवन की समस्त सात्विक साधनाओं की परख 'परहित' की ही कसौटी पर होती है। 'परहित' की प्रवृत्ति विकारहीन हृदय और आत्मा के चरम विकास की आचरण मूलक आत्यंतिक परिणति है, सृष्टिमात्र के प्रति रागात्मक अनुबन्ध की सहज अनुभूति है, समस्त जड़-चेतन को 'सीय राममय' देखने की व्यावहारिक प्रतीति है, परदुख कातरता और लोक-सेवा के भाव से निष्पन्न मंगलमयी निष्ठा है और मानव धर्म की चरम सिद्धि है। गोस्वामी जी ने इसीलिए परहित को सार्वकालिक और सार्वदेशिक तत्त्व माना और 'परपीड़ा' को अधमता का अन्तिम रूप।

'जग मंगल हेतु' अवतरित होने वाले गोस्वामी जी के राम 'धरम धुरिन' अथवा धर्म के मूर्तिमान स्वरूप हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन परहित साधन में बीतता है। प्रत्येक दीन, दुखी संत्रस्त, पीड़ित, पराभूत और पतित का उद्धार उनके जीवन का व्रत है। स्नेह, सद्‌भाव, सदाचार और शील से युक्त, विश्वमंगल की कामना से प्रेरित, आचरणमूलक सद्‌धर्म का स्थापन उनका लक्ष्य है। राम के प्रिय भक्त सक्रिय रूप से परोपकार में रत रहते हैं। भरत, लक्ष्मण, हनुमान आदि भी परोपकार साधन में ही अपने कर्म की सार्थकता समझते हैं। गोस्वामी जी ने सन्तों का आवश्यक गुण परहित साधन ही माना है—'सत सहहिं दुख परहित लागी।' जो 'परहित' के आराधक नहीं होते वे अधम ही नहीं अभागे भी होते है क्योंकि उनका जीवन श्रेयस नहीं बन पाता।

गोस्वामी जी की धार्मिक दृष्टि अत्यन्त व्यावहारिक और व्यापक है। वे विकार रहित सम्वेदनशील हृदय की स्वार्थ रहित आध्यात्मिक बोध को धर्म का सच्चा स्वरूप मानते हैं। उसमें 'अयं निजः परोवेति' के स्थान पर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव ही प्रबल है। स्मरणीय है कि गोस्वामी जी के काल में बहुपन्थवाद के धूसर वातावरण में सद्‌ग्रन्थों का सन्देश लुप्त हो रहा था। धार्मिक संगठनो और सम्प्रदायों में हिंसक कलह की स्थिति बन गयी थी। ऐसी विकट परिस्थिति में गोस्वामी जी ने मानवतावादी मूल्यों पर आधारित एक सर्व स्वीकार्य व्यावहारिक धर्म का प्रस्ताव किया जिसमें जाति, धर्म, ऊँच-नीच, शिक्षित-अशिक्षित, विद्वान-बुद्धिहीन, आस्तिक-नास्तिक, गृहस्थ-विरक्त जैसे वर्ग भेद के लिए कोई अवकाश ही नहीं था। राम के आदर्श चरित्र द्वारा गोस्वामी जी ने जिस धर्म अथवा आदर्श जीवन शैली को प्रस्तुत किया वह प्रत्येक देश अथवा राष्ट्र के सामुदायिक

विकास के लिए अनुकरणीय है। आज की पतनशील स्थिति में तो वह और भी प्रासंगिक और मूल्यवान बन गयी है। वस्तुतः वे अपने युग के सबसे अधिक प्रखर और प्रभावी धर्म सुधारक थे।

समग्र जीवन-बोध

गोस्वामी जी का साहित्य, विशेष रूप से उनका रामचरितमानस समग्र जीवन बोध से युक्त सामाजिक साधना का परिणाम है। मानव जीवन के सभी स्तरों, सभी वर्गों, सभी दशाओं से सम्बद्ध समस्याओं और उनके समाधान का आख्यान रामचरितमानस में किया गया है। उनके साहित्य में आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों के प्रश्नों को उठाया गया है और सभी के उत्तर भी दिये गये है। इस कृति में श्रमिक किसान, आदिवासी, परिचारक, सम्राट, राजकर्मचारी, गृहस्थ, विरक्त, विद्वान, अशिक्षित, ऋषि, मुनि, सज्जन-असज्जन, सन्त-असन्त, देव-दानव, स्वार्थी-त्यागी, आसक्त-विरक्त, आस्तिक-नास्तिक सभी प्रकार के व्यक्तियों की जीवन-शैली, प्रवृत्ति और आत्यन्तिक परिणतियों का आख्यान किया गया है। साम्प्रदायिक संघर्षो को मिटाने, समाज को संगठित करने, भारतीय संस्कृति को बचाने, भारतीय जनमानस मे आत्मविश्वास जगाने और राष्ट्रीय अस्मिता को उद्‌बुद्ध करने के लिए उन्होंने जो वैचारिक क्रान्ति की उसका ऐहिहासिक महत्त्व है।

गोस्वामी जी के *रामचरितमानस* का महत्त्व किसी काल विशेष की सीमा में नहीं बॉधा जा सकता। अपनी समग्रता के कारण उसका विस्तृत फलक सार्वकालिक और सार्वदेशिक बन गया है। भक्ति के सर्व सुलभ मार्ग की प्रतिष्ठा करके गोस्वामी जी ने भक्ति के धरातल पर मानव समाज के सभी कृत्रिम भेदों को मिटाकर समतामूलक समाज की रचना पर बल दिया। उन्होंने मनुष्य के आचरण को ही उसकी उच्चता या न्यूनता का मानक माना। आज भी हम अपनी समस्या का समाधान *रामचरितमानस* में ढूँढ़ते हैं। विभिन्न प्रकार की भ्रामक और द्वन्द्वात्मक स्थितियों में गोस्वामी जी के मत को निर्णायक मानते हैं, आज के नेता, राजकर्मचारी, शिक्षक, व्यवसायी, जनसाधारण, समाज-सुधारक, धर्माचार्य, विरागी आदि सभी वर्गो के लोग रामचरितमानस से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। इस प्रेरणा का कारण है गोस्वामी जी की व्यापक दृष्टि और जीवन की समग्रता का बोध। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "अपने दृष्टि विस्तार के कारण ही तुलसीदास जी उत्तरी भारत की समग्र जनता के हृदय मन्दिर में पूर्ण प्रेमप्रतिष्ठा के साथ विराजमान हैं।"

गोस्वामी जी ने समाज के सभी वर्गों के लोगों की जीवन शैली का बहुत

समीप से निरीक्षण किया था, प्रत्येक कोटि के लोगों की प्रवृत्तियों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया था, मानव जीवन में स्वभावगत विशेषताओं, वैयक्तिक और सामाजिक परिणामों का सूक्ष्म निरीक्षण किया था, भोग-त्याग अथवा प्रेय-श्रेय के महत्त्व को विवेकपूर्ण ढंग से हृदयंगम किया था और सार्थक जीवन के वास्तविक सत्य का साक्षात्कार किया था। वे सांस्कृतिक संगठन और शील स्थापन के द्वारा प्राणिमात्र के मंगलविधान के आकांक्षी थे। इसलिए प्रगति पथ की अवरोधक निगतिगामी प्रवृत्तियों के निरास और पोषक प्रवृत्ति विकास पर बल देते हैं। उनके द्वारा विवेचित-विश्लेषित समस्याएँ किसी देशकाल अथवा परिस्थिति विशेष से सम्बद्ध न होकर जीवन के शाश्वत प्रश्नों से सम्बन्ध रखती हैं और जीवन पथ पर उद्भ्रान्त मानव को आलोकमयी दिशा का निर्देश करती है। आज भी हम जीवन के विविध सन्दर्भों में गोस्वामी जी के आदर्शों से अपनी समस्याओं का समाधान प्राप्त करते हैं और उनके आदर्शों को अपनाने में जीवन की सार्थकता का अनुभव करते हैं।

व्यापक स्वीकृति

गोस्वामी जी के साहित्य की प्रासंगिकता पर विचार करते समय स्पष्ट होता है कि उनकी सभी कृतियाँ किसी न किसी रूप में प्रासंगिक है किन्तु *रामचरितमानस* उनकी चूड़ान्त सिद्धि का प्रतीक है। *पार्वती मंगल, जानकी मंगल* और रामलला नहछू अपनी लोक संसक्ति और लोकाचार की अभिरुचि संस्कार के लिए आज भी प्रासंगिक और लोकप्रिय है। लोक भाषा में रचित *बरवै रामायण* लोक मानस को आकर्षित करता है। *बैराग्य संदीपिनी* को आज भी विरक्त जीवन का आदर्श व्याकरण माना जाता है। *कवितावली* के मार्मिक प्रसंग आज भी मन्त्रमुग्ध करते हैं। *हनुमानबाहुक* की प्रार्थनाएँ बड़ी निष्ठा के साथ गायी जाती हैं। *दोहावली* के दोहों को लोग भक्ति नीति और राजनीति के सन्दर्भों में प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं। *रामाज्ञाप्रश्न* फलित ज्योतिष में विश्वास करने वाले जनसामान्य के लिए एक सरल और सुगम साधन है। *रामगीतावली* अपने माधुर्य बोध, सांगीतिक सम्पदा और करुणा की दीप्ति के कारण आज भी पाठक को रसमग्न करती है। *कृष्णगीतावली* में कृष्ण की लीलाओं भावपूर्ण चित्रण और सगुणोपासना का सन्देश आज भी चित्ताकर्षक लगता है। *विनयपत्रिका* में एकनिष्ठ और प्रपत्तिपूर्ण भक्तिभाव का उद्रेक आज भी भक्ति साधना का चरम और अन्यतम रूप माना जाता है। ये सभी कृतियाँ अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण आज भी प्रासंगिक हैं, किन्तु उनका *रामचरितमानस* अपनी प्रासंगिकता में अन्यतम है।

रामचरितमानस भारतीय संस्कृति, भारतीय वाङ्मय और भारतीय मनीषा का मेरुदण्ड है। साथ ही वह विश्ववाङ्मय की भी अमूल्य निधि है। गोस्वामी जी के *रामचरितमानस* का अनुवाद विश्व की प्रायः सभी विकसित भाषाओं में हुआ है और हो रहा है। विदेशी विद्वानों ने गोस्वामी जी और उनके *रामचरितमानस* की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। *'अकबर द ग्रेट मुग़ल'* के लेखक प्रसिद्ध इतिहासकार विंसेंट स्मिथ ने गोस्वामी जी को अपने युग का सबसे महान व्यक्ति माना है। करोड़ों नर-नारियों पर गोस्वामी जी के प्रभाव और अधिकार को वे अकबर की सभी विजयों से कई गुनी बड़ी और चिरस्थायी विजय मानते हैं। अंग्रेज़ विद्वान कारपेंटर के अनुसार गोस्वामी जी की रचना जनमानस के अत्यधिक समीप और अनुकूल है। लोग उनके कथनों को कहावतों की तरह प्रयुक्त करते हैं। भारत की बहुसंख्य हिन्दू जनता तुलसीदास को चरित्र निर्माण और धार्मिक कार्यों में अपना पथ प्रदर्शक मानती है। जार्ज ग्रियर्सन ने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया—"तुलसीदास द्वारा प्रणीत रामायण का उत्तर भारत की करोड़ों शिक्षित-अशिक्षित जनता में इतना अधिक मान और प्रचार है, जितना सामान्य ईसाइयों में बाइबिल का नहीं है।" जे.एम. मैक्फाइ ने तुलसीदास की रामायण को उत्तरी भारत का बाइबिल कहा। 'केई' महोदय *रामचरितमानस* को सम्पूर्ण संसार का श्रेष्ठ ग्रन्थ मानते हैं। एडविन ग्रीब्ज़ का कहना है, "हिन्दी काव्याकाश में गोस्वामी जी एक सूर्य के समान देदीप्यमान है। उनके सरल, दृढ़ और पवित्र जीवन के साथ कविता का विलक्षण माधुर्य और प्रभाव उन्हें सर्वोत्कृष्ट स्थान का अधिकारी बना देता है।" इसी प्रकार अनेक रूसी, जर्मन, फ्रांसीसी और यूरोपीय विद्वानों ने गोस्वामी जी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। ध्यातव्य है कि ये विदेशी विद्वान सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न मानसिकताओं और परम्पराओं के व्यक्ति है। यह व्यापक स्वीकृति गोस्वामी जी की तात्त्विक मूल्यवत्ता और उदात्त भावभूमि का प्रमाण है।

भारतीय सन्दर्भ में स्मरणीय है कि गोस्वामी जी अपने जीवन काल में स्वीकृत और समादृत हो गये थे। उनके समकालीन प्रसिद्ध भक्त और विद्वान मधुसूदन सरस्वती ने गोस्वामी जी की प्रशंसा में कहा था—

आनन्द कानने कश्चित् तुलसी अंमस्तरुः
कविता मंजरी यस्य राम भ्रमर विभूषितः॥

श्री नटेशन की मान्यता है कि मध्यकाल के सभी सम्प्रदायों में गोस्वामी जी की रामायण बहुत उत्कृष्ट और दिव्य संगीत की भाँति अपना मस्तक ऊँचा किये हुए है। हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी रामचरितमानस को अपना अत्यन्त प्रिय और

अद्वितीय ग्रन्थ मानते थे। भारतीय सन्दर्भ में गोस्वामी जी और उनके रामचरितमानस के प्रशंसकों की तालिका अपरिमेय होगी। यहाँ इतना ही पर्याप्त होगा कि आज की परिस्थिति में गोस्वामी जी के आदर्श और भी महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। देश-विदेश में होने वाली रामलीलाओं में लाखों की भीड़, रामचरितमानस के प्रवचन कर्ताओं की बढ़ती लोकप्रियता, ग़रीब की झोंपड़ी से लेकर राजभवन तक मानस की व्याप्ति आदि इसी के प्रमाण हैं। यह व्याप्ति और लोकप्रियता गोस्वामी जी की प्रासंगिकता और उनकी रचनाओं की शाश्वत मूल्यवत्ता का पुष्ट प्रमाण है। ऋषिकल्प गोस्वामी जी के ग्रन्थरत्नों में निहित रसमूलक साहित्य साधना, विलक्षण काव्य प्रतिभा, उदात्ततम काव्यादर्श, आभ्यान्तरिक वृत्तियो की मनोवैज्ञानिक परख, भावानुगामिनी भाषा, कलात्मक संयम, कला की लोकोन्मुखता, समन्वयवादी दृष्टि, लोकमंगल की साधनापरक व्यवस्था, विश्वजनीन करुणा, आचार-प्राण सर्वसुलभ उपासना पद्धति, लोकहृदय की सच्ची पहचान, रामराज्य का सामाजिक आदर्श, जड़-चेतन में सामंजस्य, सामाजिक संसक्ति, लोकोपकार की निष्ठा, वैश्विक मानव धर्म की प्रतिष्ठा आदि के कारण कल्पान्त तक उनकी कृतियाँ मानव के विकास पथ में आलोक पुंज प्रदान करती रहेंगी। इस सम्बन्ध में आधुनिक युग के लब्धप्रतिष्ठ कवि 'हरिऔध' जी की ये पंक्तियाँ स्मरणीय हैं–

बन राम रसायन की रसिका रसना रसिकों की भई सफला।
अवगाहन मानस में करके जन-मानस का मल सारा टला।
बनी पावन भाव की भूमि भली हुआ भावुक भावुकता का भला।
कविता करके तुलसी न लसे कविता लसी पा तुलसी की कला।